

कला के परिच्छेदों को देखिए—

१. कला की परिभाषा	३
२. कला की विशेषता	१३
३. कला की स्थिति	२५
४. कला के रूप	४१
५. सौंदर्य	६२
६. कला का सौंदर्य	८१
७. जीवन और कला	१००
८. कला और देश-काल	१२२
९. कला का उद्देश्य	१३१
१०. कला-सृष्टि की प्रेरणा	१४२

प्रकाशक—

युगांतर-साहित्य-मंदिर,
भागलपुर सिटी, बिहार

प्रथम संस्करण—१९९४

मूल्य—सजिल्द १॥)

अजिल्द १॥)

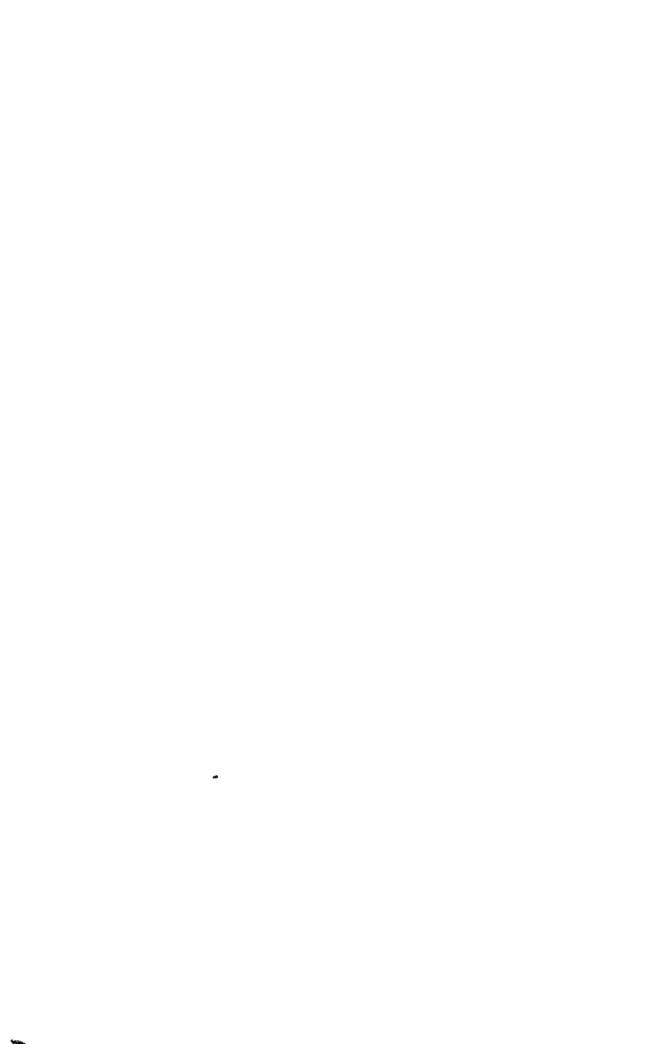
मुद्रक—

वजरंगवली 'विशारद'
श्रीसीताराम प्रेस, जालिपादेवी, काशी

पिता, तुम्हारी वस्तु तुम्हीं को—



कला



कला की परिभाषा

काव्य और साहित्य ही की तरह कला पर भी नाना मुनियों के नाना मत हैं। इसकी विद्वानों ने अनेकों परिभाषाएँ गढ़ी हैं। (शेर्ली की राय है, कल्पना को अभिव्यक्त करना ही कला है)। डॉल्सटॉय कहते हैं, कला मानवीय चेष्टा है। एक मनुष्य अपनी उन भावनाओं को, जिनका उसने अपने जीवन में साक्षात्कार किया हो, ज्ञानपूर्वक कुछ सकेतों-द्वारा दूसरों पर प्रकट करता है। उन भावनाओं का औरों पर असर पड़ता है और वे भी उनकी अनुभूति करते हैं। रवीन्द्रनाथ ने कहा है—जो सत् है, जो सुंदर है, वही कला है। हेगेल का कहना है, मनुष्यों की क्रिया की सृष्टि ही कला है। वायरन के मतानुसार मस्तिष्क की सृष्टि संबंधी चेष्टा ही कला है। प्रसिद्ध फ्रेंच समालोचक फागुए (Faguet) का इस

वह तो प्रकृति की अनुकरणमात्र है। मानव की यह प्रवेष्टा उनकी अनुकरण प्रवृत्ति की परिचायक है। यदि सच पृष्ठा जाय तो संसार में जो-जो और जितनी भी उन्नत शक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं सब प्रकृति-प्रदत्त हैं। उपनिषद् कहता है, वास्तव में कलाविद् एक ईश्वर है और यह सृष्टि ही कला है। (John Stuart Mill कहते हैं, Art is but the employment of nature for an end. और मेथ्यु बार्नल्ड का कहना है—Art is the thing which they are. अर्थात् कला कला है।

उपर्युक्त कथन की सत्यता को कुछ लोग इस प्रकार स्वीकार करते हैं कि, यह सत्य है कि कला की उत्पत्ति प्रकृति से हुई है, फिर भी दोनों की भिन्न-भिन्न सत्ताएँ हैं। तात्पर्य यह कि, कला और प्रकृति दोनों एक ही श्रेणी-मुक्त नहीं हो सकती। प्रकृति स्वाभाविक शक्ति का नाम है और कला मानवीय सृष्टि का। अतः दोनों अलग-अलग वस्तु हैं। शेक्सपियर ने कहा है—

Nature is made better by no mean,
But nature makes that mean; so, over that art
Which, you say, adds to nature, is an art,
That nature makes, you see sweet maid, we marry
A gentler season to the wildest stock;

And make conceive a bark of baser kind
 By bud of nobler race. This is an art
 Which does mend nature—change it rather; but
 The art itself is nature.

अतः कला न तो प्रकृति का केवल अनुकरण मात्र है, और न उसको प्रतिच्छवि ही। उसकी एक स्वतंत्र सत्ता है और वह मनुष्य की अपनी सृष्टि है। यदि प्रकृति की हू-ब-हू नकल कला कहलाती तो वह केवल छाया होती, निर्जीव होती। फिर आवश्यकता क्या पड़ी थी कि सजीव प्रकृति के होते हुए भी मानव उसकी निर्जीव छाया—कला—की सृष्टि करते ? फलतः कला प्रकृति की नकल तो हो ही नहीं सकती—वह और ही कुछ है।

प्रश्न हो सकता है, कला प्रकृति का अनुकरण नहीं, तो वह क्या है ? कला ? कला प्रकृति पर मानवों जी विजय की घोषणा है। जबतक मनुष्य प्रकृति के दास थे, और जबतक सभ्यता का कुछ भी विकास नहीं हो सका था, तब तक कला नाम की कोई वस्तु थी ही नहीं। कला-कौशल की उन्नति का नाम सभ्यता है और सभ्यता से अभिप्राय है, मानव-समुदाय का प्रकृति से संसर्ग छूट जाना। सृष्टि की शैशवावस्था में मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता था। किंतु ज्यों-ज्यों उनकी आवश्यकताएँ बढ़ने लगीं

त्यो-त्यो उन्हें अपने बुद्धि-विवेक के सहारे अमसर होना पड़ा । प्रकृति का संबंध छूटता चला और अपनी शक्ति ही उसकी पथ-प्रदर्शिका बनी जिसे दूसरे शब्दों में हम यों भी कह सकते हैं कि उनकी बुद्धि विकसित होने लगी और वे सभ्यता के मार्ग पर अमसर होने लगे ।

हम इसे दूसरे रूप में कहने की चेष्टा करेंगे । कला मनुष्यों की अपनी सृष्टि है और वह प्रकृति से कुछ विशेषता रखती है । चित्र और फोटो में जो पार्यव्य है, वही प्रकृति और कला में भी है । फोटो प्रकृति का यथायथ अनुकरण है, पर चित्र चीज़ ही कुछ दूसरा है । यदि चित्रशिल्पी भी फोटोग्राफर ही की तरह किसी मनुष्य की आकृति अथवा प्राकृतिक दृश्य को दृ-दृ उतारता, तो वैसी तहीनता, चतनी भावुकता, और चतने पर्यवेक्षण की आवश्यकता ही क्या रहती ? किंतु सच्चा कलाकार केवल यथार्थ जगत् को ही चित्रित करना अपना कर्त्तव्य, अपना अभीष्ट नहीं मानता और वास्तव में यह उसकी कुशलता और सकलता का परिचायक है भी नहीं । वह तो अपनी तूलिका और रंग से उस चित्र में अपने मन की उन भावनाओं को स्पष्ट रूप से प्रति-फलित करेगा, जो भावनाएँ शिल्पी के मन को उस दृश्य अथवा आकृति के देखने पर आंदोलित करती हों । शिल्पी के सन्मुख बाह्य जगत् की अपेक्षा अंतर्जगत् अधिक मूल्यवान् है; और बाह्य

अभिव्यंजना रहती है। इसीलिए कला को एक ही प्रेरणा होते
ए भी कलाकारों की कृतियों में आकाश-पाताल का अंतर पड़
ता है और अंतर पड़ना स्वाभाविक भी है। देश और काल का
भी प्रभाव कला पर पड़ता है। इसपर यथा त्याग प्रकाश डाला
जायगा। अभी इतना ही कहना आवश्यक है कि, भाव और
रस एक होने पर भी अभिव्यक्ति में विभिन्नता आती है।

शैशव जीवन की एक अवस्था है और कदाचित् सभी अव-
स्थाओं से सुंदर और मधुर भी; अतः उसके बीत जाने पर मान-
सीय हृदय में तरस आना स्वाभाविक है; किंतु प्रत्येक में एक
जैसा तरस होना स्वाभाविक नहीं।

चित्रकार! क्या करूँ कर फिर
मेरा मोला दासापन
मेरे यौवन के अश्रुत में
चित्रित कर दोगे पावन?
—पन्त

कहाँ वह बेध वासना होन ? कहीं अब वह अज्ञान अनुरक्ति ?
कहाँ सुरतक को भी निज पास — बिहँस कर ले आने की शक्ति ?
तिया निष्ठुर यौवन ने छीन ! बनाया दुःखमय जग का दास !
विगत शैशव ! उस सुख का एक — छिड़क जा हींटा झरूर पास !!

—द्विज

रूस के विश्व-विख्यात कला-मर्मज्ञ डोस्टावेत्की ने इन दोनों के अंतर को बड़ी सुंदरता से बताया है कि, शिल्पी जिस मुख को अंकित करते हैं, उसमें वे उसके अंतर के विशेष भाव को प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं। संभव है, चित्र अंकित करने के समय वह विशेष भाव व्यक्त न हो, पर उनकी खूबी ही यह है कि, उस अदृश्य भाव को वे कल्पना के सहारे पकड़ लेते हैं, किंतु फोटोग्राफर के अलाउद्दीन का दीपक वह कल्पना कहाँ ? वे जो देखते हैं, उसे ही यकायक उतार देते हैं। इससे संभव है कि, मनुष्य का बाहर तो प्रकाश हो, पर उस प्रकाश से वह (मनुष्य) पहचाना हो जाय—ऐसा नहीं होता। फोटो देख कर कभी-कभी नेपोलियन मूर्ख और बिस्मार्क करुण-हृदय मालूम पड़ते हैं।

प्रसिद्ध इटालियन शिल्पी लिओबादवत्की ने कहा है—मनुष्य एवं उसकी आत्मा की आकांक्षा को तूलिका की सहायता से प्रस्तुत कर देने में ही कला की सार्थकता है।

अब यह स्वतः सिद्ध है कि, कला प्रकृति का अनुकरणमात्र कदापि नहीं, उसमें कलाकार की अंतर्निहित शक्ति भी लीन रहती है। विशेष कर कला में कलाकार की कल्पना का भी बहुत बड़ा हाथ रहता है। जहाँ कल्पना काम करती है, वहाँ प्रकृति से विशेषता अवश्य आएगी, आना स्वाभाविक ही है। हाँ, कल्पना

है। कलाविद् उसी सौंदर्य को फिर से विश्व-मानव के आगे पेश करता है। विशेषता उसमें केवल यही रहती है कि, उस प्रदर्शन में, उस अभिव्यक्ति में, उस सौंदर्य में वह अपनी अनुभूति, अपनी कल्पना का रंग चढ़ा देता है। यही तो कला है ! फिर किस प्रकार मनुष्य उसे अपनी स्वतंत्र सृष्टि कहने का दम्भ भरता है ?

कला की विशेषता

वात बहुत अंशों में सच है। यदि कला में केवल यही विशेषता होती, तो उसकी स्वतंत्र सत्ता का इतना बड़ा महत्व नहीं होता। किंतु मालूम पड़ता है कि उसमें और भी कोई विशेषता है और जो बहुत ही महत्वपूर्ण भी है। आखिर वह कौन-सी विशेषता है ? वह विशेषता है संपूर्णता का आदर्श जो संसार को और किसी वस्तु में ढूँढ़े न मिलेगी और उसीके दल पर लोग उसे मनुष्य की अपनी सृष्टि करने का साहस करते हैं। इसी कारण कला की जलग ही एक मनोरम एवं महत्वशाली सत्ता कायम होती है। समस्त विश्वप्रकृति में संपूर्णता के आदर्श का कहीं भी, कोई भी अस्तित्व नहीं। क्योंकि परिवर्तन के आवर्त में पड़कर यहाँ किसी भी वस्तु की स्वतंत्र तथा यथायथ सत्ता नहीं। प्रत्येक वस्तु अपूर्णता से पूर्णता की ओर ब्रमसर

नहीं जा सकता । कला को विशेषता, संपूर्णता का आदर्श, यही है—यहाँ ही है ।

मनुष्य इसीलिए सुंदर नहीं होता कि उसकी नाक नुकीली, आँखें आम के फाँकों-सी, रंग गोरा और वस्त्र सुनहले, साफ़-सुथरे होते हैं; वरन् वह सुंदर इसलिए होता है कि उसमें चेतना की दीप्ति, भाव का लावण्य, करुणा की मधुरता आदि का समावेश होता है । इसीलिए गुलाब अथवा चंपा की अपेक्षा हम मनुष्य के मुखड़े की ओर अधिक आकृष्ट होते हैं । मनुष्य का मुखड़ा हमें अत्यधिक मोहित करता है । फूलों में हम इसी चेतना की दीप्ति का अभाव पाते हैं । यही नहीं, वह मनुष्य, जो अपने जीवन-काल में अपने में गजब का आकर्षण, हृद की सुंदरता रखता है, जब उसका शरीर प्राणहीन हो जाता है, चेतना की दीप्ति लुप्त हो जाती है, तब घृणा का पात्र हो जाता है, इसी प्रकार जिस दृश्य में कलाकार की अपनी अनुभूति निहित नहीं रहती, जिस सुख में मनुष्य के अंतर के भाव परिलुब्धित नहीं रहते, वह खोखला है । हम मनुष्य के चित्र में वाद्यावृत्ति के साथ ही भीतर के उस मनुष्य को देखना चाहते हैं जिसने संपूर्णता का आभास हो । इसी तरह दृश्यों में हम शिल्पी की उन अनुभूति को पकड़ना चाहते हैं जो उस दृश्य के द्वारा उनके हृदय में उत्पन्न हुई हो । इसी सजीवता का लान शिल्पी अथवा

और—“A man's reach should exceed his grasp
Or what's Heaven for ?”

पूर्णता के आदर्श पर किसी को यह आपत्ति हो सकती है कि पूर्णता है कहां ? यदि पूर्णता है तो हममें यह गति कैसे परि-
लक्षित होती है ? पूर्णता तो उस अवस्था का नाम है, जिसके आगे
और कुछ है ही नहीं । आगे बढ़ने की प्रवृत्ति हममें मात्र इसलिए
होती है कि हमारा अभिप्रेत स्थान (Goal) दूर पड़ा रहता
है । पूर्णता का अर्थ लक्ष्य की प्राप्ति है । यदि कला में पूर्णता है
तो फिर आगे बढ़ने की ओर हम क्यों उत्सुक रहते हैं ।
उत्तरोत्तर उन्नति क्यों हो रही है ? इस पर चीनी कलाकारों की
राय है कि पूर्णता ही अंत है, पूर्णता ही न्यु है । इसीलिए
वे किसी भी सच्चा को ससीम स्वीकार नहीं करते और उनके
चित्रों में ऐसी रिक्तता पाई जाती है, जहाँ कल्पना को विचरण
करने का बहुत बड़ा अवसर मिलता है । किसी विद्वान ने चीन
की दृश्यांकण-कला को ‘अनंत भावना’ का नाम दिया है ।

इसी प्रकार कहानों में भी आजकल कला के नाम से बंध
में एक बहुत बड़ा सून्य-स्थान छोड़ दिया जाता है और इसलिए
कि हमारी कल्पना निर्बाध विचरण कर सके । मोटा मोटी कला
पाने में नहीं है, बरन् उसके संघान में है, उसमें अनंत चिरंतन
का जो आभास है, वही कला है । आल्बर वाइल्ड ने कहा है,

14

15

ज्या है ? यही कि हमारी चेतना वास्तविक सत्ता का साथ देती है; अर्थात् कला सत्य को सुंदर कर देती है। हम कला में इसी सत्य-सुंदर को, संपूर्णता के ऐसे ही आदर्श को चाहते हैं। जैसे संगीत को लीजिए। उसके तान और सम दो भाग हैं। तान सुर को खिलाता है, सम उसकी समाधि है। यदि सम न हो तो संगीत की पूर्णता नहीं। काव्य में भी भाव का केवल रूप ही नहीं रहता, वरन् उस रूप की एक निश्चयता रहती है। वर्डस्वर्थ ने कहा है—

“The light which never was on land or sea,
The consecration and poet's dream.”

अर्थात् जो प्रकाश जल और स्थल कहीं भी नहीं है, वह पवित्र रूप में कवि के स्वप्न में अवस्थित है।

कलाकार की आभ्यंतरिक अनुभूति के सम्मिश्रण से वास्तव-जगत की परिवर्तनशील वस्तुओं को भी एक स्वतंत्र सत्ता कायम हो जाती है। कवि जिस भाव को रूप देता है, उसे वस्तुगत कर देता है, उसमें निश्चयता आ जाती है। कीट्स की प्रेसियन अर्न (Grecian urn) अर्थात् ‘ग्रीक मृत्पात्र’ पर एक कविता है। उस पात्र पर किसी यज्ञोत्सव का चित्र अंकित था, न मालूम कब की विस्मृत छवि थी वह, पर कवि ने उस छवि को फ्या फर दिया ? अमर कर दिया, अमर ! आपने बताया कि सौंदर्य अमर

•

•

•

•

से काल-चक्र को व्यर्थ कर, मूक होकर तुम्हारा संदेशा ढोता आ रहा है कि प्रिये, मैं तुम्हें भूला नहीं हूँ ।

प्रकृति परिवर्तनशील है । यहाँ कुछ भी चिरंतन नहीं और सदैव के लिए कुछ भी नहीं खोता । प्रकृति मरने के लिए जीती और जीने के लिए मरती है ।

“That tomorrow she herself may free
She prepares her sepulchra to-day.
All that is to live in endless song
Must in life-time first be drowned ”

अगामी कल के लिए रूप-बंधन से मुक्त हो जाने को प्रकृति देवी आप अपनी चिता आज रच रही हैं; अनंत माधुरी में स्थित रहने के लिए प्रत्येक पदार्थ को उसके वर्तमान रूप की विद्यमानता को विनष्ट करना पड़ता है ।

किंतु कवि के आगे यह विधान उतनी भयावह नहीं । उसे तो यह हिम्मत रहती है कि हर्ज क्या, परिवर्तन के आलवाल में कोई वस्तु-कुछ-से-कुछ क्यों न हो जाय, हम भाव-द्वारा उसके जिस रूप को पकड़ लेंगे, उसे रची भर भी टस-से-मस नहीं होने देंगे । उमर जैयाम ने कहा है—

आँ माह के काविल सवर हासत वजात
गाहा हायवान शवद ओ गाह नवात,

कला की स्थिति

अब विचार यह करना है कि संसार तो दो ठहरा, एक अंतर्जगत और दूसरा बाह्य जगत, मगर कला की दुनिया कौन-सी है अथवा कला किस दुनिया की है ? ऊपर हम कह आए हैं कि कला प्रकृति का अनुकरण या वास्तव की प्रतिच्छवि नहीं, बल्कि वह जो उसे केवल अंतर का सौंदर्य-प्रकाश कहना भी बेजा है, योंकि हृदय की सौंदर्य-भावना प्रस्फुटित होती भी है तो यथार्थ जगत का आधार लेकर, अतएव वह न तो यथार्थ जगत की प्रतिच्छाया है और न अंतर्जगत की सौंदर्य-भावना का प्रस्फुटन, अपितु वह एक तीसरी ही दुनिया की वस्तु है, उसका संसार ही भिन्न है। बात यह है कि जिस प्रकार हरे और पीले रंग के सम्मिश्रण से एक सर्वथा भिन्न तीसरे रंग की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार बाह्य जगत हमारे हृदय में प्रवेश कर या हमारे अंतर्जगत के संस्पर्श में आकर एक तीसरा ही जगत बन जाता है। वह तीसरा जगत ऐसा कि उसमें यथार्थ जगत की भी छाया हिलती है, अंतर्जगत का तो खासा प्रतिबिंब रहता ही है। वस इसी तीसरे जगत् से सर्वसाधारण को परिचित कराना कलाविद् की कला या कुशलता है, अथवा यों कहे, कलाविद् की प्रवेष्टा से जिस नवीन संसार की सृष्टि होती है, वही कला है।

किंतु याद रहे, सभी कलाविद् नहीं हो सकते। आषाढ़ के

कियाँ संख्या में कम और चौड़ाई में संकीर्ण होती हैं/
संसार के बीच में वे प्रवाली-से हैं ।

“कुछ इस प्रकार के सौभाग्यशाली पुरुष भी हैं, जिनका विस्मय, प्रेम और कल्पना सर्वत्र सजग रहती है—प्रकृति के कोने-कोने से उनको निमंत्रण मिलता है; संसार के नाना आंदोलन उनकी अंतर्बीणा को नाना रागिणियों में स्पंदित कर देते हैं।”

कला की स्थिति में किंतु अब तक पूरा मतभेद है। कुछ विद्वानों की राय है कि, कला वास्तव की प्रतिच्छवि है और कुछ विद्वानों का कथन है कि कला है अंतर की संपूर्णता के आदर्श का प्रकाश। अंग्रेजी में पहले को Realism (चर्यावाद) तथा दूसरे को Idealism (आदर्शवाद) कहते हैं। इन दोनों वाद वालों के विवादों का अंत नहीं। गजब तो यह कि दोनों पक्ष अपनी पुष्टि के लिए एक-से-एक प्रमाण उपस्थित करते हैं, किंतु हमें इन दोनों वादों में कुछ-न-कुछ त्रुटि नजर आती है। थोड़ी देर के लिए यदि मान लिया जाय कि कला वास्तव ही की प्रतिच्छवि है तो अंधेर-सा जान पड़ता है। कोई भी मनुष्य अपने भ्रोंपड़े को तब उखाड़ फेंकेगा, जब उसे कहीं महल का ठिकाना लग जाय। आकाश के नीचे शीत से ठिठुरने तथा धूप से जलने के लिए अपने भ्रोंपड़े को उखाड़ कर शायद ही कोई अपनी असाधारण मूर्खता का परिचय दे। कला यदि चर्या जगत् की छाया हो तो वह इसी

कम आनंद-प्रदान, इतनी ही उसकी उपयोगिता हो. पर अनुकरण में, नक़ल में वह रुचि कहाँ, वह आनंद कहाँ !

जर्मनी के शेक गेलरी (Schack galerie) में उन्नीसवीं सदी के सर्व श्रेष्ठ जर्मन चित्रकार लेनबाक (Franz Von Lenbach १८३६-१९०४) का एक चित्र है । चित्र का नाम है Der Histenk nabe अर्थात् मेघ-पालक बालक । इस चित्र की संसार भर में काफी धूम है । आप पूरे वस्तुतंत्रवादी थे और चित्र में उग्र वास्तविकता की पूरी तिष्ठता है । मध्याह्न का समय है, इटली का आकाश प्रखर सौंदर्योद्दीप्त है । ज़मीन हरे मखमल जैसी कोमल घासों से लदी है, घासों के बीच-बीच में छोटे-छोटे फूल खिले हुए हैं । तितली और मधु-मक्खियों की टोली उड़ रही है । ऐसी सजीवता है, ऐसी सजीवता कि उनके गुन-गुन गीतों की भी आवाज़ का कानों को भान हो जाता है । रंग की अजब बहार है । उसी घास के विद्यौने पर एक बालक आँखों पर हाथ धरे लेटा हुआ है । उसके सोने का ढंग जितना सरल है, उतने ही हृदय-द्रावक हैं उसके नगे पैर, मादुम पडता है कि, उसकी मांस-पेशियों सजी हो हैं ।

इस चित्र का एक छोटा-सा इतिहास है । लेनबाक की पूरी इच्छा रही या एक इटालियन बालक को चित्रित करने की । उनके धूप खाये हुए पैंतो का रंग यथार्थ में भूरा होना चाहिए

प्रकृतिवाद के जन्मदाता हैं एमिलि ज़ोला । उसके पहले गीतिए ने फ्रांस में यथार्थवाद की विजय घोषणा १८५७ में कर दी थी । मगर उनके 'वाद' में बहुत अधिक हानिकारक मंतव्य नहीं थे । उन्होंने कुछ कुत्सित सत्यो को कल्पना के सहारे खिलाया अवश्य था, किंतु कला के सत्य को भी आप संपूर्णतया भूल नहीं बैठे थे । कला के सत्य से हमारा अभिप्राय है, नैतिक जीवन को श्री और सौंदर्य के अभाव-हाहाकार को ओट के चिरंतन सत्य से । संभव है, कोई चित्र साधारण की दृष्टि में कुत्सित, धृष्ट और अपवित्र प्रतीत हो, पर शिल्पी की तो खूबी है उसी में अनुपम सौंदर्य-श्री मंडित कर देना । पंक असुंदर है, किंतु वह कमल को जन्म देता है । अतः यह कोई बात नहीं कि, किसी कुत्सित चित्र का जिक्र ही न हो, हो और खूब हो; पर कुत्सित कह कर नहीं । जहाँ कलाविद् की धारणा ऐसी हो उठे, समझना चाहिए कि, वे सफलता से कोसों दूर हैं । ऐसा यथार्थवादी शिल्पी भी स्वीकार करते हैं कि, शिल्प केवल वास्तव की प्रतिच्छवि न होकर उस अनुभूति का प्रकाश है, जो वास्तव के सहारे मन में हो । अनुभूति भी जैसी-तैसी नहीं, शेली ने कहा है—

"Nor heed nor see what things they be.
But from these create he can
'Things more real than living man,
The nurslings of immortality."

कता ही वह वस्तु है जो शिल्पी के अंतर्जगत की प्रतिध्वनि है, अंतर की सौंदर्य-भावना का स्वरूप है, कमनीय कल्पना का आविष्कार है। नहीं क्या ?

और आगे आइए। प्रकृतिवाद ने तो इससे भी गजब का गुल खिलाया। यों तो यथायथ प्रकाश करना ही दोनों वादों का अभिप्राय है, किंतु दोनों में अंतर है। यथार्थवादी अच्छे-बुरे दोनों को ठून्-ठून् चित्रित कर देता है, लेकिन प्रकृतिवादों के लिए समस्त विश्व में अच्छा कुछ है ही नहीं। इतने पर भी जोला बराबर अपने शिष्यों से कहा करते थे कि यदि उपन्यास लिखना चाहो तो अपने अगल-बगल के लोगों को गहरी दृष्टि डाल कर देखो; लेकिन तुम प्रेस-रिपोर्टर तो हो नहीं; इसलिए जो घटनाएँ नज़र के सामने से गुज़रें, उन्हें शृंखला में आवद्ध करते हुए तुम्हें अपना वक्तव्य ठीक करना होगा।

इससे प्रकट होता है कि, कल्पना का सहारा लिए बिना इनका भी काम नहीं चलता था। फिर तो यह कहना व्यर्थ है कि जहाँ कल्पना की सहायता ली जाती है, वहाँ यथार्थवाद और प्रकृतिवाद (Realism और Naturalism) का वह तात्पर्य नहीं रह जाता, जैसा लोग समझा करते हैं।

अब रही बात आदर्शवाद (Idealism) की। इसके लिए एक अत्यंत छोटा-सा उद्धरण ही पर्याप्त होगा। गुइडो रेनी

में मँडराते देखा करते हैं; कभी ऐसा भी जमाना था जब उसकी वू भी नहीं थी। तो क्या वह निराधार कल्पना-प्रसूत है ? नहीं, उसका सबकु हमने पक्षियों में पाया। अतः कला उस जगत की वस्तु है, जहाँ यथार्थ और आदर्श का विरोध नहीं हो। यथार्थ और आदर्श के सम्मिश्रण से शिल्पी के हृदय में जो सरस सुंदर अनुभूति होती है, उसी का मार्मिक वाह्य प्रकाश ही कला है।

फ्रांस के विशेषज्ञ आँरी बार्गसों ने शिल्प-संबंधी एक निबंध में उल्लेख किया है कि, मनुष्य साक्षान् की वास्तविक सत्ता को देख नहीं सकता, इसलिए वह प्रत्येक वस्तु को एक श्रेणी में रख कर देखता है। प्रत्येक वस्तु एक दूसरे से किन्हीं अंशों में विभिन्न है, स्वतंत्र है, किंतु इस स्वतंत्रता का कोई स्वाद मनुष्य पा नहीं सकता। हम वस्तु मात्र को देखने में असमर्थ हैं। हम उसे देखते हैं उस लेदिल की सहायता से, जो उन पर चिपका हुआ रहता है। हमारे देखने की यह अवस्था केवल बाह्य वस्तुओं तक ही सीमित नहीं, वरन् अंतर की भी किसी अभिव्यक्ति के विशेष रस का हम परिचय नहीं पा सकते; अतएव उन्हें भी श्रेणी-भुक्त कर संतोष की साँत लेते हैं। व्यक्ति का व्यक्तित्व इस प्रकार से छिपा फिरता है। इसे इस तरह भी कह सकते हैं कि जिस प्रकार हम वास्तव के बाहर हैं, उसी प्रकार हम व्यक्तित्व के भी बाहर हैं। किंतु प्रकृति कभी-कभी किसी को जीवन के इस स्थूल क्षेत्र से

में वेदना, आनंद और कलणा का जो उत्स प्रत्यह स्फुरित होता है, वह और कहाँ मिलेगा ! यहाँ आवाल-वृद्ध-वनिता के मुख-मंडल पर जीवन की नाना अभिज्ञताओं को जो छवि भासमान है, जो दीप्ति है, वह विश्व के किस रंगमंच पर, किस चित्रशाला में दृष्टिगोचर होगी ? पक्षों के मर्मर संगीत में, स्रोतस्विनी की कक-कल ध्वनि में, भ्रमर की गुनगुनाहट में, पंक्षियों के और शत-शत मानवों के कंठों से जिस संगीत की मधुरता विलुंठित होती है, वह कलाविदों की कौन-सी कर्मशाला या संगीतालय में मिलेगी ?

कला की साधना है—किसी सत्य को अखंड और स्वतंत्र अभिव्यक्ति । कलाविद का स्वर (संगीत), तूलिका (चित्र) हथौड़ा (भास्कर्य) और लेखनी (साहित्य) जिस किसी विषय को चुनती है, उसे अखंड और स्वतंत्र रूप में व्यक्त करती है । मानों विश्व में कुछ है तो, वस्तु, यही है—चाहे वह विषय प्रेम का हो या सौंदर्य का । इसीलिए यौन-मिलन की गीति होने पर भी शेक्सपियर की *Anton* और *Cleopetra* *Romeo* और *Juliet*; टॉल्स्टॉय की *Anna Kareina* आदि संसार में अमर हैं । शेक्सपियर के नाटकों के पात्रों में हम हृदय-आवेगों के जिस घात-प्रतिघात का भोषण-स्वरूप देख पाते हैं, हमारे मन में भी ठीक ऐसा ही कुछ सघर्ष मचा रहता है, पर समाजगत संस्कारों से

छोड़ने से नहीं चूकते । इमीलिए शेक्सपियर-द्वारा प्रस्तुत किए गए पात्रों के प्रति हमारे हृदय में सहानुभूति होती है, वे यही तीव्रता से हमारे हृदय को स्पर्श करते हैं ।

अमर चित्र शिल्पी रुबेन्स का प्रमत्त हरक्युलिस (Drunk Hercules) नाम का एक चित्र है । नरो में विशालकाय हरक्युलिस मत्त है और आस-पास नम्र सुंदरियों के चित्र । उस मत्तवर्ण में उसकी आत्मा की शक्ति न मालूम कहाँ खो गई । एक ओर पाप और दूसरी ओर लालसा (चित्र में एक ओर पाप की एक कदाकार वीभत्स मूर्ति और दूसरी ओर मोहिनी लालसा की एक अतीव सुंदरी मूर्ति के रूप में कल्पना की गई है और दोनों साकार हैं) उसे किसी अनजान पथ की ओर खींचे लिए जा रही हैं । चित्र यद्यपि वीभत्स है, तथापि उसकी आद में जो दिव्यता है, कला का जो सत्य प्रतीयमान है, यही उसे अमरता दे सका है । उस अश्लीलता में इतनी शक्ति नहीं कि, चित्र का वहिष्कार करा सके । कोई उसे भद्दा और कुत्सित कह सकता है और है भी, किंतु उसमें एक ऐसी अवस्था चित्रित है, जो बड़ी सुगमता से, बड़ी शीघ्रता से मानव-हृदय को छू लेती है तथा उसके प्रति सहानुभूति-अर्जन कर लेती है ।

मनुष्य न तो पशु है और न देवता, प्रत्युत वह मनुष्य है । उसमें जब क्रोध और भक्तता आ जाती है तब वह मनुष्यता की सीढ़ी से बहुत-कुछ खिसक जाता है और उसकी, उस समय की, अवस्था को हम पशुता कहते हैं । कभी ऐसा भी समय आता है कि उसकी करुणा, उसका त्याग मनुष्यता की सीमा को अतिक्रम कर और भी ऊपर उठ जाता है । ऐसी अवस्था को हम उसका महत्त्व अथवा देवत्व की संज्ञा से अभिहित करते हैं । इन्हीं तीनों अवस्थाओं के दर्शन मानव-जीवन में समय-समय पर पाये जाते हैं । किंतु जो बराबर देवता ही बना रहता है, अथवा पशुता हो जिसकी रात-दिन की संगिनी है, उसे हम मनुष्य नहीं कह सकते, बरन देवता और पशु कह सकते हैं । पर यह अस्वाभाविक बात है । सब प्रकार से, सब समय मनुष्य को मनुष्य ही होना चाहिए । इसीलिए हम देखते हैं कि, जो कलाविद् अपनी कृति में मनुष्य-जीवन को इसी उत्थान-पतन के साथ चित्रित करता है, वही सफल भी होता है । उसी कृति में हमें आनंद आता है । क्योंकि उसमें मर्मस्पर्शिता रहती है । उसके सुख-दुख और दैन्य-दरिद्रता में हम अपनी अवस्था का ही प्रतिबिम्ब पाते हैं ।

सब तो यह है कि, प्रकाश हमें उज्ज्वल और मधुर इसलिए मालूम पड़ता है कि बंधकार कहकर भी एक वस्तु है । सुख में

ही उच्चतम अवस्था को पहुँच सकता है। उसकी दुर्बलता यह है कि वह उच्चतम अवस्था प्राप्त करके भी भ्रष्ट हो सकता है। दुराचारियों की जिन वीभत्स कृत्यों से हमारा चित्त उद्धिन्न हो उठता है, वे भी जीवन की एक अवस्था की सूचना देने के लिए आवश्यक हैं। मनुष्य के लिए अधःपतन की पराकाष्ठा जितनी सही है, उतना ही सच्चा उसका अभ्युत्थान भी। यही कारण है कि, जिन विश्व कवियों ने हमें जीवन की उच्चतम अवस्था दिखा-लाई है, उन्होंने जीवन की निम्नतम अवस्था की भी उपेक्षा नहीं की। यही नहीं, उन्होंने श्रेष्ठ चरित्रों में भी मनुष्यों की स्वाभाविक दुर्बलता प्रदर्शित कर दी है।”

— ‘विश्वसाहित्य’ पृ० १८९

कला के रूप

संसार में जितने प्रकार की कलाएँ उत्पन्न हो चुकी हैं, उनके दो रूप हैं। पहला वह है, जिसे मनुष्यों ने अपने जीवन के अभावों की पूर्ति के लिए उत्पन्न किया है। जैसे जीवन के लिए भोजन एक अनिवार्य पदार्थ है। क्योंकि खाद्य के बिना मनुष्य जी नहीं सकता, ऐसा वैज्ञानिक सत्य है। इस अभाव की पूर्ति के लिए मनुष्यों ने नाना प्रकार के खाद्य-पदार्थों को उपजाने का, न मालूम, कितनी विधियाँ आविष्कृत की हैं। फिर उनके रंधनकी

नहीं पहुँचाता । भोजन भूख को औषधि या क्षुधानिवृत्ति का एक
 अवलंब है । अभिप्राय यह है कि भोजन की उपयोगिता है;
 और वह है भूख बुझाना । यह तो जिन-तिन चीजों से ही पेट
 की आग बुझा ली जा सकती है । परंतु नहीं, हम रोटी बनाते हैं
 तो हमारा खयाल सर्वदा उसे पतली करने की ओर रहता है; फिर
 उसे भी गले से नीचे उतारने के लिए दाल-शाक-भाजी, दूध-
 चीनी आदि की भी सहायता लेते हैं । खान-पान के पात्र जैसे-
 तैसे होने से भी उक्त कार्य में कोई बाधा नहीं पहुँचती । किंतु
 पात्रों की सुंदरता को भी हम नहीं भूल सकते । जिस स्थान पर
 भोजन करने बैठते हैं, उसके साफ-सुथरे न होने पर भी भोजन
 में हमारी रुचि नहीं होती और खाकर हमें वृत्ति नहीं होती । भोजन
 करानेवाले की ओर से मान-सम्मान में यदि कुछ भी त्रुटि पाई
 गई तो वह भोजन हराम हो जाता है । अब एक भोजन—प्रधान
 आवश्यकता—के लिए हमें इतनी संकटें मेलनी पड़ती हैं । क्यों ?
 सौंदर्य का बोध होने से । सौंदर्य यद्यपि देखने में एक अलग की
 वस्तु है, तथापि हमारे जीवन को साधारण-से-साधारण घटना में
 वह इस विचित्र तरीके से समा गया है कि, हम उसे जान भी
 नहीं पाते । आँख किसी वस्तु को इसीलिए देख लेती है कि, वह
 उससे दूर है; पर, वह आँख अपने पलकों को नहीं देख सकती । इसी
 प्रकार सौंदर्य का हमसे ऐसा घनिष्ठ संबंध है कि, हम यह भी

दूसरे रूप में कला वह है जो हमारे जीवन की प्रयोजनीयता पके है। उसकी सृष्टि मनुष्यों ने केवलमात्र अपने सुख के लिए की है। मानवों की जीवन-यात्रा से उसका ऐसा घनिष्ठ और आवश्यक संबंध नहीं कि उसके बिना हमारा काम ही न चल सके। इस प्रकार की कला का एकमात्र लक्ष्य है—मानवीय सुख-विधान। इसके बिना जीवन की धारा में किसी प्रकार की अविच्छिन्नता आने की संभावना नहीं। इसका नाम है ललित कला—Fine arts। संगीत, चित्र, भास्कर्य और साहित्य इसी के अंतर्गत हैं। सुंदर संगीत सुन कर, अच्छे चित्र देखकर या अच्छी कहानो-कविता सुन कर किर्मी को जीवन को सुंदर रूप में गठित करने की सहायता नहीं मिल सकती। इस विषय में आदिकाल से विद्वानों में दड़ा मतभेद होता चला आ रहा है। कोई कला उसे मानते हैं जो जीवन को सुंदर बना सके। Plato कह गए हैं—*We must look for artists who are able out of the goodness of their own natures to trace the nature of beauty and perfection that so our young men, like persons who live in a healthy place, may be perfectly influenced for goods.*

दूसरे पक्ष का कहना है—

*'I do it only because I must
Am I different from the bunnets sin...'*

इस आकस्मिक आकर्षण का मूल है—कल्पना । कल्पना उसके हृदय-मंदिर में उस रमणी की उस मोहक मूर्ति को बिठला देती है और तब दिल बे-अख्तियार हो उठता है ।

वास्तव जगत् के अभिन्न संस्पर्श से जब हमारी आत्मा एक-आध घड़ी के लिए ऊब उठती है, तब वह कल्पनाश्रित विषयों की ओर दौड़ पड़ती है । वहाँ उसे कुछ शांति मिलती है, रुमि का बोध होता है, संतोष होता है । इस श्रेणी की कला की सार्यकता मनुष्यों की इसी तरह के सुख-विधान में है ।

अच्छा, कल्पनाश्रित विषय से मन सुखी क्यों और कैसे होता है ? कल्पनाश्रित विषयों में एक प्रकार की नवीनता या विचित्रता रहती है । उसके द्वारा हम एक ऐसी वस्तु से परिचित होते हैं, जिसके दर्शन हमें वास्तव जगत् में नहीं होते । मन को एक ऐसी वस्तु मिल जाती है, जिसे मन चाहता है । नवीनता से ही मन को प्रफुल्लता मिलती है । सहज-सुलभ वस्तु में वैचित्र्य नहीं रहता और जहाँ वैचित्र्य नहीं, वहाँ सुंदरता कहाँ ? परंतु सहज में प्राप्त न होनेवाला होने पर भी सुंदर अलौकिक पदार्थ नहीं । अलौकिक होने से ही तो तृप्ति कम जाती है और फिर वह हमारे आनंद का कारण नहीं रह जाता ।

जगत् की सृष्टि के विषय में उपनिषद् में एक त्याग पर आता है—ज्ञानंदायैव तत्त्वितानि भूतानि जायन्ते । ज्ञानदेन

न जाने तब रक्षित मे होन
मुझे इंगित करना तब मोन ।

—११

सब में एक ही मन है, एक ही विचार है । प्रकृति को
अनन्त-ध्वनि जब कवि के हृदय-मंदिर पर टकराकर आपन दगदी
है तब उस सच-सुंदर से उनका पूरा परिचय होता है । खोजनाय
कहते हैं—

आकाश आनाम डाके दूरेर पाने
नागविहीन अलानिंदेर गाने
सकन साँभे पगल ममदाने
काहार बाँगी पमन गनोर न्वरे !

जहाँ नागविहीन अलाने गीत गाया कर आकाश मुझे
सुंदर को ओर बुलाना है, नान्द-नन्दे किन्नी पत्नी इस तरह की
गंगा-ध्वनि से हमारे हृदय को गीतनी है ।

किंतु आध्यात्मिक कवि ए. ई. ने तो उन अन्त की, निगूढ
के अग्रगण्य अभिव्यक्ति का अनुभव ही नहीं किया उसे पकड़ कर
रख लिया उस सच-सुंदर के आपन भावावेग में आँखें मूँद कर
अनिगन हो नहीं दिया वरन स्थिर नेत्रों से उस देखा । इसी-
लिए वे दूर से केवल आभास-इंगित से ही उनके दर्शन नहीं
कराने, कहते हैं,—



न जानें तपक तड़ित में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन ।

—पंत

सब में एक ही प्रश्न है, एक ही जिज्ञासा है । प्रकृति की आनंद-ध्वनि जब कवि के हृदय-पट पर टकराकर आघात करती है तब उस सत्य-सुंदर से उसका पूर्ण परिचय होता है । खोदनाय कहते हैं—

आकाश आमाय डाके दूरेर पाने
भाषाविहीन अजानितेर गाने
सकत साँके परान ममटाने
काहार बाँशी एमन गभीर स्वरे !

अर्थात् भाषाविहीन अक्षेय गीत गा-गा कर आकाश तुम्हें सुदूर की ओर दुलाता है, साँम-सदरे कित्ती दंशी इस तरह की गभीर ध्वनि से हमारे हृदय को खोचती है ।

किंतु आध्यात्मिक कवि ए ई, ने तो उस अनंत की, निगूढ़ की अमुरत अभिव्यक्ता का अनुभव ही नहीं किया, उसे पकड़ कर रख लिया । उस सत्य-सुंदर का आपने भावावेश में आँखें मूंद कर आलिंगन ही नहीं किया, बरन स्थिर नेत्रों से उसे देखा । इसी-लिए वे दूर से केवल आभास-इंगितों से ही उनके दर्शन नहीं कराते, कहते हैं,—

जो नाद-ब्रह्म कहा जाता है। नाद-ब्रह्म की परिवर्तनावस्था है—ध्वनि। आदि युग से आत्मा में यह उद्भास समाहित है और वही सुर के रूप में, ध्वनि में अभिव्यक्त होता है। किंतु आत्मा की प्यास गीत के इसी स्वरूप से तृप्त नहीं हो जाती, इस गति को जो धारा है, धारा में जो रूप है, उसे आँखें भर कर देखने की आकांक्षा भी हमें विकल बनाए रहती है। इसी व्याकुलता से पिंड छुड़ाने के लिए चित्र में हम उस अरूप को एक निर्दिष्ट सीमा में चित्रित कर देते हैं। फिर भी तृप्ति नहीं होती।

‘जनन अवधि हम रूप निहारिनु

नयन न तिरपित भेलः’

तब क्या चाहिए और ? अखण्ड-दर्शन की लालसा ने न्यर्शन की भी लालसा को भड़काया। फिर—

‘प्रति अंग तागि कौंदि प्रति अंग मोर—”

प्रत्येक अंग से मिलने के लिए हमारा प्रति अंग रोने लगा। इसके बाद ही भात्कर्य की उत्पत्ति। भात्कर्य से गीत को वस्तु सत्ता कायम हुई। उसके बाद एक सर्वथा नूतन अभाव खदका। वह यह कि अशरीरो संगीत को चित्र में रूप और आँखें मिलीं, भात्कर्य में उन नूतन देह को स्मृत रूप में परिणत किया गया, पर सब मूक, काव्य से उसकी मुखा विनष्ट हुई।

ललित कला में काव्य का स्थान इतना ही सर्वोपरि है। काव्य

also the reason why if we insist on asking for the meaning of such a poem we can only be answered. It means itself.'

अर्थात् यह भी एक कारण है कि जब हम पूछते हैं कि ऐसी कविताओं के अर्थ क्या है तब इसका एक ही उत्तर—इसका अर्थ यह स्वयं ही है—पाया जा सकता है ।

इसमें Art for the sake of art वाला विवाद उठ सकता है; पर यहाँ उससे कोई मतलब नहीं । मतलब यह है, कि उन अवसरों पर लोग कला की दुहाई देते हैं । और वह इसलिए कि, उसके स्पष्ट रूप को बताने का कोई उपाय नहीं रह जाता । कला का प्राण रस है और रस का प्रत्यक्ष रूप दिखाया ही नहीं जा सकता । उपनिषद् कहती है—'रसो वै सः । रसं देवायं लब्ध्वा-नन्दी भवति ।'—अर्थात् वे रस स्वरूप हैं । इसी रस की उपलब्धि कर मनुष्य को आनन्द प्राप्त होता है ।

काव्य की उससे से भी एक उत्तम परिमाणा है । 'चित्रं वाक्यं काव्यं' ।—जो वाक्य चित्र है वही काव्य है । चित्र से मनोमुग्धकर भाव निर्याता है । चित्र का गुण चित्र को मुग्ध करना है । काव्य में संगीत है और चित्र भी, किंतु काव्य के चित्र की विशेषताएँ चित्र नहीं पा सकती । चित्रकार प्रकृति के सौंदर्य को, जी के रूप को मनोहारि और आकर्षक ढंग से चित्रित

कर सकते हैं, परंतु कालिदास ने एक श्लोक में उसे जितनी सुंदरता से व्यक्त किया है—किसी भी चित्रकार के लिए वह साध्यातीत है ।

"इयमात्मनः पवित्रहृदि प्रेष्यते दृष्टिपातं
 पञ्चमहाभूतं शशिनि सिद्धिनां वर्तमानेषु वेदान् ।
 उत्पन्नमिह प्रतनुषु नदी क्षोब्धे भद्रिनाम्न
 हर्षेक्ष्मिन् पद्मपत्रे नते खण्डि सादृश्यमस्ति ।

घोंसल लताओं में तुम्हारे अंग, धबिना हरिणों के लोखनों
में तुम्हारा त्रिपात, पंखों में तुम्हारे बर्तन, गोर-पत्तों में देहा,
नारी लाल-बाल में भुविताज देख पाते हैं । बिट्टू है बोंबे ।
विहरी एक बरत में तुम्हारा स्मरण नहीं पाये ।

इस प्रकार दो दिग्गज सौंदर्य से सब करने में सक्षम हैं
 समस्त हासिल है किन्तु इनका हाथों से कर्मों को दिग्गज नहीं
 बना है। इनका कर्मों से निराला है। इनका हाथों से सब
 करने का नतीजा है। इनका हाथों से सब करने का नतीजा है।
 इनका हाथों से सब करने का नतीजा है। इनका हाथों से सब
 करने का नतीजा है। इनका हाथों से सब करने का नतीजा है।

कागहिं उड़ावै कबौं कबौं करै सगुनौती
 कबौं बैठि अवधि के बासर गिनति है ।
 पढ़ी पढ़ी पाती कबौं फेरि कै पढ़ति
 कबौं प्रीतम के चित्र मे स्वरूप निरखति है ॥"

विरह में प्रेम की जो व्याकुलता हृदय में होती है, उसकी सुंदर अभिव्यक्ति में कवि ने अपनी खासी कुशलता का परिचय दिया है । मानो उस स्त्री के हृदय को खोल कर रख दिया है ।

रामचंद्र के साथ जब सीताजी वन को जा रही थीं, उस समय के वर्णन में तुलसीदासजी ने मर्मस्पर्शिता फूट-फूट कर भर दी है; चित्र में शायद ही हम ऐसी आशा कर सकते हैं ।

"पुस्तें निकसी बलुबीर बधु धरि धीर दये मग मे दुग है ।
 कलकी भरि भाल कनी जल की पटु गूँव गये मथुराधर मे ॥
 फिर वृक्षनि हैं चलताउव किनै पिय पर्णकुटी कहिहो किन है ।
 नियकीलखिआनुगतापियकी अँखियाँअनिसारुचलीजल की ॥"

सीताजी की आनुगता में उनकी कोमलता बड़ी सुंदरता में प्रकट हुई है और राम की आँखों के आँसुओं ने तो प्रेम की व्याकुलता को मार्मिक रूप में दिया है और आह्वान ही क्या ?

'रहिमन आँसुआ नयन धरि, तिय दुग प्रकट करेय ।
 आदि निकासो मोह ते, कम न मोह कही बेय ॥'

लेखिका जी की यह सूक्ष्म अविवरित व्यक्तभाव है । हम

को अधिका बुझाने को अवसर प्रायः नहीं देती, किंतु
प्रेम भी छिपाये जैसे छिपे ?

'जो पे मुख्य बोलें नहीं नैन देत हें रोय ॥'

निगोफ हृद में सेनापति ने दाए-सौंदर्य को खासी जमि-
न्दगी तो की ही है, रमणी के लव्य को भी दिखा दिया है—

'फलन सौ बाल की बनाई गुरी देनी ताल
भाऊ दीनों देन्दी एग मद् की अखित हें ।
अंग-अंग रूपन बनाइ ब्रजभूषन जू
दोरी निज परते खवाइ अति हित हें ।'
हो है रसदस लद होवे को महादर पे
सेनापति स्वाम गणों खरन ललित हें ।
पूनि हाथ नाथ पे लगाइ रहि स्तम्भित सौ
बही प्रानपति ! यह ल'त अलंकित हें ।

—यही तो है जीवन का गान
 सुख का आदि और अग्रस्तान !'

कविता के लिए विषय की उतनी प्रधानता नहीं, प्रधानता है भाव की और विशेष कर भावों को अभिव्यक्त करने के ढंग की, शैली की। प्रसंगवश हम ऊपर कहीं कहा आए हैं कि भाव, विषय या तत्त्व ता सर्वसाधारण के भी होते हैं, उसे व्यक्त करने का ढंग ही कवि, साहित्यिक या कलाविद् का अपना है। जो सद कवि संसार में अमर हो गए है, वे इसी कृतित्व के दल पर। कवि के संबंध में कहा गया है—

जानाते यत्त चन्द्राशौ जानन्ते यत्त योगिनः।

जानाते यत्त भर्गोपि तज्जानाति कवि स्वयम्।

प्रत्येक कला अपने में स्वयं पूर्ण है तथापि मनुष्य का एक मम-निर्देश किया जा सकता है किन्तु विभिन्न स्तरों में रहने जाने पर भी होट घटे या सबल नहो। हमारा वह वह अंगों की समष्टि है। अपने-अपने मार्ग से अनुत्तर नमने वह है। फिर सबसे ऊँचा होने पर भी हम-वैर यदि ही नमने नहीं प्रकट होती। क्योंकि देह से फिर फिर निम्न जाग्रत है हम-वैर ही भी उतनी ही आवश्यकता है। हरन देह का उपकरण है और भी अधिक है कि वह नमने लता पड़ता है।

शिरसिमंडनम्'.....वस कवि एकाएक रुक गए । फिर श्रीकृष्ण ने स्वयं आकर छल से उसे यों बना दिया—देहिपद-पल्लवमुदारम् । 'चूमि हाथ नाथ के लगाये रही आँखिन सो'—भाव का यह रूप वाकई कमाल है । किसी भी बड़े-से-बड़े चित्र-शिल्पी के लिए यह असंभव है । वह नारी के सौंदर्य की पराकाष्ठा दिखला सकता है । चंद्रमुखी, मृगनयनी, केहरि कटि, व्यालवेणी आदि का सुंदर समावेश अपने चित्र में इस खूबी से कर सकता है कि संभव है, कवि को काव्य में उतनी सफलता न प्राप्त हो, पर ऐसे भाव को चित्रकार क्या कभी ऐसा रूप दे सकता है ?

केवल चित्र और उपमा से हो नहीं, भाव को रूप देने में कविता अद्भुत क्षमता रखती है । जैसे प्रसाद की निम्नोक्त पंक्तियाँ—

‘जो घनीभूत पीडा थो
स्मृति-सी मस्तक पर छाई,
दुर्दिन में आँसु बनकर
वह आज बरसने आई ।’

अथवा पंत की—

‘प्रथम इच्छा का पारावार,
सुखद आशा का स्वर्गमास;
स्नेह का वासंती-संसार
पुनः उच्छ्वासों का आकाश !’

—यही तो है जीवन का गान
सुख का आदि और अन्तान !

कविता के लिए विषय की उतनी प्रधानता नहीं, प्रधानता है भाव की और विशेष कर भावों को अभिव्यक्त करने के ढंग की, शैली की। प्रसंगवश हम ऊपर कहीं कह आए हैं कि भाव, विषय या तत्त्व या सर्वसाधारण के भी होते हैं, उसे व्यक्त करने का ढंग ही कवि, साहित्यिक या कलाविद् का अपना है। जो सत्र कवि संसार में अमर हो गए हैं, वे इसी कृतित्व के घल पर। कवि के संबंध में कहा गया है—

जानाते यन्न चन्द्राकौ जानन्ते यन्न योगिनः ।
जानाते यन्न भर्गोपि तज्जानाति कवि स्वयम् ॥

प्रत्येक कला अपने में स्वन पूर्ण है तथापि सद का एक मन्म-निर्देश किया जा सकता है। किंतु विभिन्न स्तरों में रखे जाने पर भी छोटे दंडे का सवाल नहीं। हमारी देह कई जगों की समष्टि है। अपने-अपने कार्य के अनुसार सभी रंडे हैं। निर सबसे उंचा होने पर भी हाथ-पैर आदि की नाचनता नहीं प्रकट होती। क्योंकि देह के लिए निर जिंदा आवश्यक है हाथ-पैर की भी उतनी ही आवश्यकता है वरन् पैर की उन्नतता से और भी अधिक है कि वह सदको टोता चलता है।

है या जिस वस्तु को कुत्सित कहता है, वह सब समय कुत्सित ही रहता है, ऐसा भी नहीं होता । जिस वस्तु को हम सुंदर समझते रहे हैं, कभी ऐसा समय आता है, कि जब उसके अंदर हम एक शोचनीय निर्जीवता का स्वरूप देखते हैं और तब लाख चेष्टा करने पर भी हृदय उसे सुंदर कहना स्वीकार नहीं करता । इसके विपरीत जिसे हम आदि से बुरा कहते आ रहे हैं, कभी-कभी उसी में एक ऐसी वस्तु हमें दृष्टिगोचर होती है, कि जब उसे सुंदर कहे बिना हम नहीं रह सकते । इसीलिए बहुतों की राय है कि, सौंदर्य एक मानसिक अवस्था है । सौंदर्य यदि वस्तुगत अथवा बाहर का होता तो यह विपरीतता नहीं नज़र आती, जब एक ही वस्तु को एक व्यक्ति सुंदर एवं दूसरा असुंदर कहता । इस विरोधीभाव से यही पता चलता है कि मनुष्य की सौंदर्य-वृत्ति शिक्षा और सत्कार पर अवलंबित है ।

किंतु मन पर विभिन्न इन्द्रियों का प्रभाव पड़ता है और बहुत समय वह इन्द्रियों का ही दास पाया जाता है । इसलिए उसमें भ्रांति की संभावना है । हम देखा करते हैं कि, मन अधिकतर आकृष्ट होता है रूप-रस की ओर, और उसी के सुख को बड़ी सुगमता से सुख मान लेता है । तो क्या इसी फैसले पर हम निर्भर कर लें कि, मन का ही सुख सच्चा है और जिसके द्वारा सुख की प्राप्ति होती है, वही सुंदर है, उसी में सौंदर्य है ?

और गंध में भी वह सुंदर होता है । इसलिए इसके दो पद हैं । एक सुंदर तो वह है जिसकी प्रयोजनीयता अथवा उपयोगिता से सुगंध करती है, पर सुंदर हमको किस कारण या किस प्रकार से सुगंध करता है, इसका पता नहीं । समस्त प्रकृति में एक अंश सत्य निहित है और यह सत्य हम प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध कर लेते हैं, क्योंकि यह इन्द्रियगोचर है । जो सौंदर्य इन्द्रियों द्वारा बोध किया जाता है, वह अत्यंत ही स्पष्ट होता है, परंतु सौंदर्य की सीमा क्या यहीं समाप्त हो जाती है ? नहीं, कुछ अंश प्रत्यक्ष का ऐसा भी है, जो प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्यों को प्रभावित करता है । इस प्रभाव को बुद्धि अपने में ले आती है । इससे सुंदर-असुंदर का भेद एक प्रकार से मिट ही जाता है । इसके साथ ही जब कल्याण-बुद्धि की सहायता मिल जाती है तब यह भेद रह ही नहीं जाता ।

एक कवि ने सौंदर्य के परख की ताँ
छंद में बहुत ही सुंदर स है—

प्रेम कारीगर के अनेक रंग देखो यह,
योगिया सजाये बाल बिरिछ तरे खरी।
अंखियाँ में साँवरो, हिये में बसै लाल घड़
बार-बार मुखतें पुकारत हरी हरी ॥”

अथवा मीरा के हृदय में प्रेम का छत्र जिस सौंदर्य
से हुआ—

“मोहनी मूरति साँवरी सूरति नैना बने बिसाल।
अभर सुधा रस मुरली राजित उर बैजस्ती माल ॥
छुद्र पंढिका कटि तट सोभित नूपुर शब्द रसाल।”

अब देखना है कि इस सुंदरता का अंतर उसके हृदय पर
कैसा पड़ा ?—

“घड़ी एक नहिं आवड़े, तुम हरसय दिन मोय।
तुम हो मेरे प्राण जी, काले जीपण होय ॥
धान न भायै नींद न आयै चिरह सतायै मोद।
घायत सी घूनत फिरुं रे मोय हरद न जाये बोर ॥”

आवरण के अतिरिक्त लाभ होने से सौंदर्य ऐवय है
और वह संगत के अंतर प्रकट होता है। संगमरमर बहूओं से
एकता हृदय सौंदर्य से ओत-ओत झूलित नहीं होता कि वह
हमारे आवरण-मणों को हरी करती है वल्कि हमें एक अलग
सुख-संत दिखाने है जो हमारे ऐन-ऐन को खिले देता है.

वास्तव में बात यह है कि मंगल से हमारे मन का एक विचित्र मेल है। सत्य और शिव का सम्मिलन जब प्रत्यक्ष हो जाता है, तब सौंदर्य आप-से-आप पक्क में आ जाता है। हमारे हृदयी देवी सन्मान रूप से सौंदर्य, ऐश्वर्य और मंगल को देती हैं।

जब सौंदर्य और मंगल के सम्मिलन का स्वरूप मनुष्य हृदयंगम पर लेता है तब उसके सामने पक्के-सुरे का प्रभ ही नहीं रहता। उसके आगे यह सारा विश्व सौंदर्यमय ही रहि-गोबर होता है।

‘पत’ को सारा विश्व सुंदर ही सुंदर होकर पक्का है—

‘सुंदर सुदु-सुदु राज का तन,
 चिर सुंदर सुदु दुख का मन
 सुन्दर शेष्य दीव्य रे
 सुन्दर सुन्दर जग जीवन्

को हम तीन रूपों में पाते हैं—माता, कन्या और भाया ।

ने कहा है—

माता यस्य गृहे नास्ति भार्या च प्रियवादिनो ।

अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम् ॥

किंतु कवि ने आरंभ ही में कहा है, तुम इन तीनों में से कुछ भी नहीं हो, न किसी घर में संध्या-दीप जलाती हो और न निशोथ में 'वासर-शय्या' की ओर जाती हो । तुम वषा के समान ही अतृप्तगुंठिता हो । अन्यत्र भी आया है—

"स्वर्गेरु हृदयाचले मूर्तिमतो तुमि हे वषसी,

हे भुवनमोहन उर्वशी—"

वष का अर्थ है, विलीर्य, बहुव्यापी; जति के नानी—
होओ । जो ऐसा हो वषी का नाम उर्वशी है । उर्वशी का अर्थात्
कांक्षी या पुरुषवा । पुरु अर्थात् प्रचुर और रवस् नानी दोनों ।
ऋग्वेद के दशम मंडल सूक्त ९५ में उर्वशी की एक कथा आती
है । विद्वानों की राय है कि उर्वशी कहते हैं वषा को और सूर्य
है पुरुषवा । सूर्य के हृदय होने से वषा भागती है । दान्ते की
एक कविता में यही भाव आया है,—

In a soft-complexioned sky
Fleeting rose and kindling grey
Have you seen Aurora fly
At the break of day.

सौंदर्य के लिए संयम का होना अनिवार्य है । संयत मनो-
 वृत्ति के बिना हम सौंदर्य के सौम्यरूप के दर्शन नहीं पा सकते ।
 भोग की वानना से जब मनुष्य की प्रवृत्ति उग्र हो उठती है, तब
 उसकी आँखें भी सौंदर्य को देखने की शक्ति खो देती हैं । सुगर
 को संभोग की दृष्टि से देखने की से सब मिट्टी हो जाता है ।
 पार्वती ने जब मदन की सदायता से महादेव को बरा में धरने
 को पेटा था, तब उन्हें छुह की खानी पड़ी । दुष्यन्त और शर्त-
 मता जब भोगलिप्ता से परस्पर आकर्षित हुए, तब उन्हें अनिशन
 होना पड़ा । यक्ष की वान से ही पारस निर्वासित होना पड़ा ।
 पुरुरवा जब वामना को परीभूत हुआ, तब उर्वशी का संग छोड़ने
 पर उसे बाध्य होना पड़ा ।

पुरुरवा जब तब लालसा परसरा रहा, तब तब ने हर
 अस्त्री प्रियतमा को शरीरिण देखा रहा पर जिस से कृतार्थ
 ने जब उसको शरीर दानार्थ उत्सव पर आ गया तब वह
 उर्वशी को समझ देखने लगा वह ने अपने तब दुःख को
 देखकर सन्तान भन गया—

इन्द्र-धनुषी-पट से ढँक गत
 बाल विद्युत् का पावस लास
 हृदय में खिल उठता तत्काल
 अधखिले अंगों का मधुमास,
 तुम्हारी छवि का कर अनुमान,
 प्रिये, प्राणों की प्राण !"

संयत होकर, विशुद्ध होकर सौंदर्य की उपासना करनेवाले व्यक्ति विश्व प्रकृति के प्रत्येक सौंदर्य में उस सर्व सौंदर्यमय की नाँकी देख जाते हैं। सागर की तरंगों में गंभीर अंधकार में हँसती सी ज्योत्स्ना में, संध्या की गहरी लालिमा में, उषा की क्षिण आभा में, फल-फूलों में, वन-पर्वतों में, लोक-लीला में सर्वत्र सौंदर्य को देखकर मुग्ध होते हैं। उपनिषद् कहती है—आनन्द रूपममृतं यद्विभाति। जो कुछ प्रकाशित हो रहा है, दिखाई दे रहा है, उसका आनन्द रूप अमृत रूप है। ननुष्य को यही प्राप्ति प्रतिकूलित होती है कला रूप में। वह जहाँ नय को पाता है उसे पकड़कर अपनी किसी कृति में प्रयित कर देता है। किसी कवि ने कहा है, *Truth is beauty, beauty is truth* सत्य ही सुंदर है, सुंदर ही सत्य है।

भारत के वन-जंगलों, देव-मंदिरों, पार्वत्य कंदराओं ने ननुष्यों ने सुंदर कला की सृष्टि की है। ननुष्यों-जगत् सृष्ट सौंदर्य वरा

विचित्र प्रकार से समावेश है। आँखें कमल हैं और उनकी चपलता नदी की चपल तरंगों में प्रतिबिम्बित है। कवि, जिनकी पहुँच वहाँ तक है, जहाँ तक किसी की भी नहीं, मानव शरीर की उपमा ढूँढ़े भी नहीं पाते। अतः उसकी सुंदरता की रक्षा के लिए कपड़ों का सुंदर होना अनिवार्य है। मानव-शरीर का लावण्य इसलिए अधिक मनोहर है कि, उसमें चेतना भी है। कारण है, किसी फूल की कोमलता, सुंदरता और सुगंध हमें उतना नहीं लुभा सकते, जितना मनुष्यों का मुख। कमल या चंद्रमा उसकी बराबरी क्या कर सके। क्योंकि चेतना ही तो सौंदर्य है। 'प्रसाद' ने कितना सुंदर कहा है—

“कोमल किसलय मर्मर रव से,
जिसका जय घोष सुनाते हों;
जिसमें दुख-सुख मिल कर मन के
उत्सव आनन्द मनाते हों।
उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौंदर्य जिसे सब कहते हैं।
जिसमें अनन्त अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं !!”

हृदय न बिहरेउ पंक ज़िमि, बिहुरत प्रीतम नीर;
 जानत हौ मोहि दीन्ह विधि, यह यातना शरीर।

यहाँ प्रेम और विरह के वर्णनों की पराकाष्ठा दिखाना अभीष्ट नहीं, देखना यह है कि मनुष्यत्व से प्रेम का कैसा संबंध है। जीवन क्या है ? सुख-दुख, हर्ष-शोक, आलोक-अंधकार की समष्टि ही तो। मनुष्य के जीवन की सार्थकता मनुष्य बनने में ही है। जीवन में सुख-दुख, आशा-निराशा का संघर्ष मचा ही रहता है। जिसने वेदना और निराशा का स्वाद नहीं मालूम किया, वह मनुष्यत्व से मानो कोसों पीछे पड़ा रहा। सुख का स्वाद दुख और वेदना से ही अनुभूत हो सकता है, इसीलिए अभाव के कारण ही हम मनुष्य बने हैं। अभाव के बिना हमें किसी भी प्रकार से बढ़ने की इच्छा उत्पन्न नहीं हो सकती। जब मनुष्य को अपने अभाव का ज्ञान होता है, तभी उसने उत्तरी पूर्ति के लिए इच्छा और इच्छा-जनित चेष्टा होता है। यही चेष्टा प्रेम का मूल है।

इस पर कुछ लोग ऐसा कह सकते हैं कि जिस में वेदना की इच्छा तो मनुष्य के लिए स्वाभाविक नहीं, वह तो जानने ही की अभिलाषा करता है। हाँ, सही है, मनुष्य जानने ही अभिलाषा करता है, पर इस संघर्ष के में जानने की आवश्यकता है। जमि प्रदर्शित करने के लिए

कि शिशुओं से ही हम स्वर्ग-सुख की कल्पना कर सकते हैं। वहाँ
 न थोरा है न छल, न मिथ्या का भय, न सत्य-रक्षा की प्रचेष्टा।
 वह न्य प्रकार से निर्विकार है। महात्मा ईसा ने वहाँ के लिए
 कहा था—“Suffer little children to come unto Me
 for such is the kingdom of Heaven—इन छोटे-छोटे
 बच्चों को मेरे निकट आने दो। कारण, स्वर्ग का राज्य ऐसा ही
 है। इसीलिए बिरय के बाला-बोबिलो ने बाल्याज्या पर न जाने
 किने राज्य लिखे, बितने चित्र खंभित किए। गंगाबदि हंगल,
 बालिनाम, तुलसी, सूरदास, रवीन्द्र, जेजिबल, लाल्लो-ले कर्कर
 ने पातकपत की स्वर्गीय शोभाएँ अवलित की हैं। यह है स्वर्ग
 दुखदस ने तो शिशु-जीवन की निरुद्ध भावनाओं का ही हार हल
 से दर्शन दिया है। मेरा और दरिद्र से ऊपर का निरुद्ध हल
 ईसा ही खार् है। बि. राजा-य का-बारे ने यह सा ईसा के
 बाल्यकाल के। यह एक सा १५ ई. स. ३० ई. स. ३० ई. स. ३० ई. स. ३०
 ई. स. ३० ई. स. ३० ई. स. ३० ई. स. ३० ई. स. ३० ई. स. ३० ई. स. ३० ई. स. ३०

पैसा स्वभाविकता है । यशोदा यह देख-देखकर हँसती ।
 अपने दोष दो द्विपाने के लिए दालक नाना-भौति के बहाने करते
 हैं । अब घर यशोदा ने भी लोगों की शिकायत पर कान देकर
 तब कृष्ण से कहा कि घर में दधि-भाखन के रहते तू दूसरों के
 धर्मों क्यों पोरों किया करता है, तब कृष्ण ने अपने को बचाने
 का विनम्र सुंर मनसूया गौठा—

मैसा नेरी, मैं नहीं माखन खावो । ✓

गोर भये गैयन के पाछे मधुवन मोहि पठायो ।
 पार पार पंसीबट भट्टकरो साँझ परे घर आयो ॥
 मैं पालन पहियन दो छोटी छौंको किस बिध पायो ।
 ग्यात-ग्यात सब घर परे है, दरदस मुख लपटायो ॥
 ए जगत् मन बाँझति भागे इनके बड़े पतिपायो ।
 फिर घर बहू भेद उपज है जान परायो जायो ॥

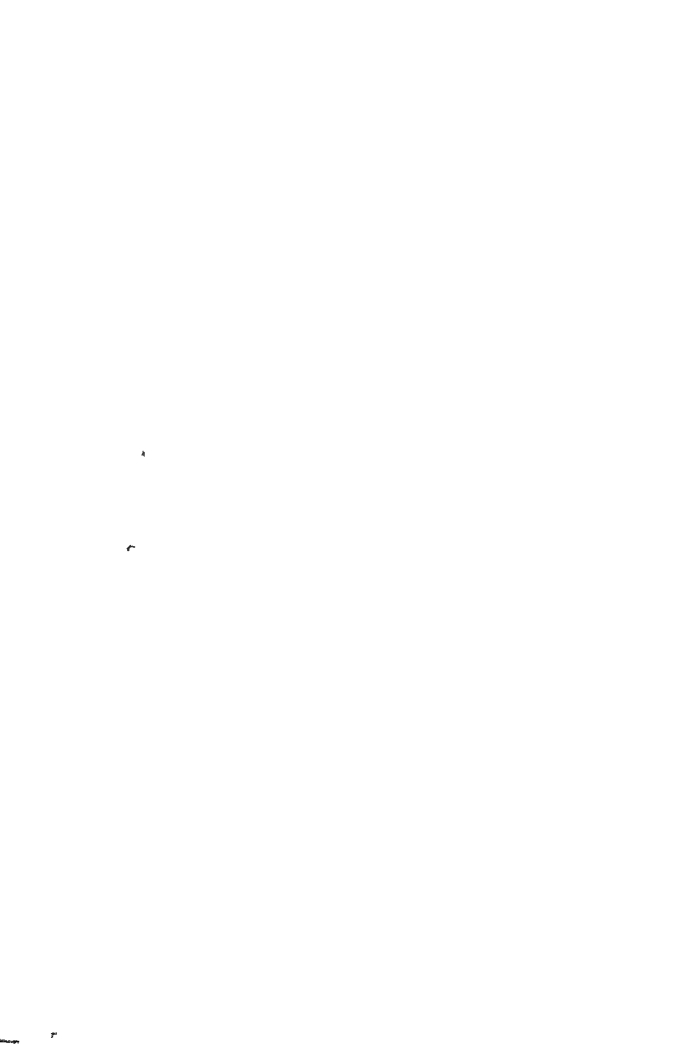
children and parents.

Of city for city, of land for land."

मनुष्यों में अपने वन्धुओं के प्रति अनुराग, मित्र-मित्र में प्रेम, पति-पत्नी में प्रणय, संतान और माता-पिता में स्नेह, नगर के लिए नगर और देश के लिए देश में आकर्षण है।

अतएव जब कला की कोई कृति हमारे सामने दुःख-दरिद्रता को लेकर उपस्थित होती है तब हमारी सहानुभूति उसके प्रति अनायास हो हो जाती है।

अतीत कला का प्रिय और मुख्य विषय है। किंतु ऐसी कुछ हवा चली है कि, कुछ लोग कहने लगे हैं, अतीत का कोई मूल्य नहीं और भविष्य अज्ञेय है; अतः उसको भी कल्पना निरर्थक है, किंतु सच तो यह है कि, मनुष्य अनंत अतीत को ही संतान है। वर्तमान अतीत के ही गर्भ से निकला है। जिस युग में हम निवास कर रहे हैं, निसंदेह इसका मूल्य बहुत अधिक है; किंतु विगत युग हम पर जो द्वाप छोड़ गए हैं, उसे ही हम किस तरह अस्वीकार कर सकते हैं? अतीत की निधि में हमारे जितने मणि-काचन जमा हैं, वर्तमान में उनका प्राप्ति करना तो दूर रहा उनके दर्शन भी सम्भव नहीं। जन-तन्त्र के १८ ऊबि वाल्ट-हिटमैन भी अतीत को अस्वीकार नहीं कर सके हैं—



क्या कोई अधिकार नहीं ? क्या जीवन की धारा उससे विजड़ित नहीं ? ज्योत में ही तो जीवन का मूल निहित है । वर्तमान में जीवन की शायद एक छोटी-सी भी झोंकी नहीं मिलेगी, जीवन के अधिकतर अंश पीछे पड़े रहते हैं । यहाँ तो वस, एक ही धातु पाई जाती है—नूतन और पुरातन का सन्मिलन । इसीसे संसार की सृष्टि है । कल तक जो था, आज के आगमन से उसमें नवीना आ गई, कल उसका रूप हमारे आगे और भी नवीन प्रकट होगा । मनुष्य जो है, यदि वह सब दिन के लिए वैसा ही रह जाय तो संसार वृद्धमय हो जाय ; किंतु एक ओर असंख्य वृद्धों का देहावसान होता है, और दूसरी ओर संख्यातीव शिशु जन्म ग्रहण करते हैं । सृष्टि-क्रम की यह धारा अबाध गति से प्रवाहित हो रही है । पुरातन और नूतन का सन्मेलन यहाँ होता ही रहता है । रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—

उच्च हासे सकौतुके चिर प्राचीन गिरिर बुके

भरे पड़े चिर-नूतन भरना ,

नृत्य करे ताले ताले प्राचीन बटेर डाले-डाले

नवीन पाता घन श्यामल वर्णा ।

पुरानो सेइ शिवेर प्रेमे नूतन हये एलो नेमे

दक्ष-सुवा धरि उमार अंग ।

एमनि करे सारा बेला चलचे लुको-चुरि से

नूतन पुरातनेर चिर सग ।



का अन्तर प्राप्त होता है, तो वह सुंदर होकर हमें अभिभूत नहीं
 कर दे सकता। और कला में जब वह स्थान पा जाता है, तब हम
 उसे एक सुंदर कह उठते हैं। हम यथार्थतया सगे भाई को
 भी पूर्णतया नहीं पहचानते। उसके जिस थोड़े से अंश को हम
 पहचान पाते हैं, उतने से ही हम उसकी एक पूर्ण कल्पना करते हैं।
 हमें कारण कला यथार्थ की प्रतिच्छाया नहीं। उसमें जीवन
 का जो रूप होता है, वह मनोहर होता है। सच्ची बात यह है
 कि जिस वस्तु के प्रभाव से हृदय प्रभावित होता है, वस्तुतः
 वह सुंदर है। उसी को हम कला में अभिव्यक्त करते हैं, क्योंकि
 उसी सुंदरता में कुछ सृष्टि करने की प्रेरणा होती है। यों तो
 हमारे में विषय और तत्त्व अनंत हैं। सभी को अपनी ज्ञान-
 सीमा के अंतर्भूत कर लेना साध्य नहीं। उन तत्त्व और विषयों
 में से कुछ ही हमारी आँखों में सुंदर रूप धर कर प्रतिबिंबित होती
 हैं। हम कला में उसी सम्पूर्णता का आदर्श विभूषित करते हैं।

कार्य कोई भी उद्देश्य-हीन नहीं होता। इसलिए कला-नृष्टि
 में भी कोई तात्पर्य अवश्य है। कला के लिए जीवन अवश्य
 ही बना, किंतु जीवन के लिए कला को नृष्टि हुई। भाषा पहले
 होती है पीछे व्याकरण। यह मानवों की सयन-वृत्ति है। उच्छृं-
 खलता में आनंद नहीं, आनंद है सयन में। इसीलिए हम
 नैतिक कार्य में संयमित रहना पसंद करते हैं। सौंदर्य के अभि-

कि सीमा-रहितता के कारण देश और काल के अनुसार आदर्शों
 में विभिन्नता आ जाती है। प्राचीन युग के लोगों ने कला के
 अभिव्यक्ति में कोई कसर बाकी न रखी। उन्होंने पशुता से
 मनुष्यता को ऊँचा उठाना चाहा और मन के अनुशीलन को
 अनिवार्य बनाया। फिर भी दृष्टि-कोण में इतनी संकीर्णता आए
 कि न रही कि, कला का भी कोई आदर्श हो। समाज, धर्म-
 मंदिर, धर्म-उत्पादन आदि आवश्यकताओं में कुछ सहायता
 देने। फल-स्वरूप, तद्वर्जित कला उसी विचार के केन्द्रीभूत
 रही। क्रमशः कला में सत, रज, तम—ये तीन प्रकार सन्निविष्ट
 हुए। धर्मियों की कला और सभ्यो की कला के आदर्श भिन्न-भिन्न
 हुए। जिन्होंने दैहिक व्यापारों में सुविधा उपस्थित करने के लिए
 मजदूरी की चर्चा की, उनकी कला तामसी और राजसी कला में
 प्रतीति-भुक्त हुई। जिन्होंने धर्म अर्थात् समाज की कल्याण-
 प्रवर्धना में कला को नियोजित किया वह मन-शुद्धि का अनु-
 शीलन सात्विकता-समन्वित हुआ। और इससे भी बढ़ कर
 जिन्होंने आत्मा को खोजा, वे आध्यात्मिकता के उत्तम राज्य में
 पहुँचे। भारत की कला अंतिम भेदों की अथवा आध्यात्मिक
 । भारतीय आदर्श की यही विशेषता है।

अच्छा, तो कला का आध्यात्मिकता क्या है ? यों तो मन
 और बुद्धि के परे आत्मा का सौम्य विकसित हो, वही आध्या-

निर पड़े थे। स्वर्ग की सुषमा, अमरता का स्वाद हमारी स्मृतियों
 में सुरक्षित है। हम अमृत को संतान हैं, आनंद की संतान हैं।
 आज भी प्रत्येक बात में हम कह लेते हैं—स्वर्ग उतर आया, सुधा
 की तरह मीठी। तो क्या ये उद्गार नितांत कल्पित हैं ? नहीं,
 जो का आभास है यह। हमें अपनी अपूर्णता विदित है।
 इसलिए हमारा प्रत्येक अनुष्ठान हमें पूर्णता की ओर, अस्त्य से
 मृत्यु की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर, अंधकार से आलोक की
 ओर ले जा रहा है। अस्त्य कुत्सित है, मृत्यु असुंदर है, दुःख
 नितानंद है। हमें अमृत चाहिए, आनंद चाहिए, सुख, शांति
 और सौंदर्य चाहिए। एक मात्र यही जाकांता इस बात की
 सूचक है कि, हम परमात्मा में मिल जाना चाहते हैं। कौन
 फिर सुंदर है, कौन आनंदरूपमृत है ?—एक परमात्मा। और
 जीवन का लक्ष्य उसी महानता में लय होना है।

किंतु इस मंगल-अनुष्ठान में सौंदर्य-प्राण कला का कौन-
 सा स्थान है ?

कला से आनंद की उपलब्धि होती है और आनंद की
 काल्पा रस है। फलतः कला वर रस है जिससे आनंद का
 प्रसव्य निर्गत होता है और रसों वै स। रस ह्येवाय लब्ध्या-
 नंदि भवति। अर्थात् वर रस है, रस रस का परम वर एव
 आनंद पाते हैं।

त्वे सर्वच्छ्रेय संबंध स्थापित कर लिया है। इसीलिए हमारे
 हाँ ईश्वर को भी कल्पना सौंदर्योपम की गई है। हमारे यह
 प्राचिन काव्य-ग्रंथों में सौंदर्य ही की महिमा वर्णित है।
 शब्द में बात यह है कि सौंदर्य रूप है। रूप पर आसक्ति है।
 जिसके कोई रूप नहीं, उसकी उपासना में तन्मयता नहीं होती।
 भक्ति से प्रेम होता है और भक्ति भी। ईश्वर-प्राप्ति की ये
 दो शाखाएँ सर्वोपरि हैं। इसी सौंदर्य-बोध के कारण हम
 ईश्वर से प्रेम करते हैं। ज्ञान उससे दूर रहकर उसका संधान
 करता है, पर प्रेम तो कहता है—

दिल के आरने में है तस्वीरे पार ।

जब जरा गर्दन झुकाई देख ली ॥

अर्पित प्रेम उसे वह सत्ता, अपने से अलग सत्ता नहीं
 स्वीकार करता। प्राप्ति की अपेक्षा वह उसे प्राप्त समझता है।
 संतोष की राधा कहती है—

दंधू, तुमि जे आमार प्राप्त ।

देह मन आदि तामारे संपेति

कुसशील जति मान ! ८

॥ श्री भगवान् उवाच ॥—

तद रूप एव, नृणां मनुष्ये, एतत् भगवान् मया ।
 कति मनुष्याः, कति कति एव न देह एव मया ॥

प्रती है, जहाँ के लोग अधिक सभ्य हैं और उस देश की कला
 प्रोत्साहित करने योग्य करती है, जहाँ के लोग सभ्यता की
 ओर कम अप्रसर हुए हैं। यह धारणा वास्तव में बड़ी भ्रामात्मक
 है। केवल भ्रम में पड़ कर ही पाश्चात्य सौंदर्य-तात्विक कला के
 उनके स्तर में विवर्तन-वाद (Theory of Evolution) के
 प्रभाव को हँदने का अधिक प्रयास करते थे। वास्तव में ऐसी
 बात नहीं है। सौंदर्य परिष्कृति होता है अपनी परिपूर्णावस्था
 में। उसमें क्रम परिवर्तन का किंचित् अवकाश नहीं, वह फलदा-
 यलता है अपने आप में परिपूर्ण होकर ही, देश-काल का प्रभाव
 उसे पथ-भ्रष्ट नहीं कर सकता। क्योंकि मनुष्य की अनंत जीवन-
 शक्ति की असीमता ही उसकी सृष्टि का मूल है। उसकी सृष्टि
 की प्रेरणा अंतर की अनंतता है। अतएव इसके दिग्गज ने यह
 बताया कि अफ्रीका और आस्ट्रेलिया की कला में अपूर्णता है
 और यूरोप की कला को पूर्णता-प्राप्त है—सर्वथा मूल है।
 इसके लिए कला का मूल धर्म अथवा Philosophy of Art
 को ध्यान में लाना आवश्यक है। क्योंकि इसके लिए दिग्गज
 के सिद्धांत और व्याख्या के निम्न बतौंगी गयीं। कला चित्त-
 सुंदर का ही सौंदर्य-प्रकाश है। इस कारण सभी देशों की
 कलाओं का एक ही धर्म है। देश-विदेश के कारण उसके धर्म
 में प्रभेद बतौर नहीं पड़ सकता। यूरोप की कला जिस कारण

इस हवा खाने लगी, परंतु इस व्यापार को वे जो-सो कहकर
को भी नहीं दे सके ।

जो भी हो, प्रेरणा के हिसाब से कला एक है, अखंड है ।
जो जो-कुछ पृथक्ता पाई भी जाती है, वह मात्र उपलक्ष्य
के कारण । ललितकला की सार वस्तु को प्रकाशित करने के
लिए ससत्ता में उसे स्थापित करने के लिए एक उपलक्ष्य की
अवश्यकता है । किंतु उपलक्ष्य ही सब-कुछ नहीं है ।
शारीरिक दृश्य, मुख की छवि, चरित्र आदि कलाकार
के रस-लीला के आधार मात्र हैं, इसके द्वारा रस को
पजना की जाती है । अतः ये मुख्य वस्तु नहीं, गौण हैं । कविता
के लिए कहा गया है—वाक्यं रसात्मकं काव्यं—अर्थात् रसमय
वाक्य ही काव्य है । तात्पर्य यह कि, वाक्य काव्य नहीं, वाक्य
में रस कह कर जो पदार्थ है, काव्य की सार्थकता इससे है ।
सौंदर्य-सादी भाषा में हम इसे यों कहते हैं—भाव अनूठो चाहिए भाषा
को ।

हुँद हवा खाने लगी, परंतु इस व्यापार को वे जो-सो कहकर
आ भी नहीं दे सके ।

जो भी हो, प्रेरणा के हिसाब से कला एक है, अखंड है ।
हि भी जो-कुछ पृथक्ता पाई भी जाती है, वह मात्र उपलब्ध
हे कारण । ललितकला की सार वस्तु को प्रकाशित करने के
लिए सरसता में उसे स्थापित करने के लिए एक उपलब्ध की
अनिवार्य आवश्यकता है । किंतु उपलब्ध ही सब-कुछ नहीं है ।
प्रकृतिक दृश्य, मुख की छवि, चरित्र आदि कलाकार
ने रस-लीला के आधार मात्र हैं, इसके द्वारा रस की
व्यंजना की जाती है । अतः ये मुख्य वस्तु नहीं, गौण हैं । कविता
के लिए कहा गया है—वाक्यं रसात्मकं काव्यं—अर्थात् रसमय
वाक्य ही काव्य है । तात्पर्य यह कि, वाक्य काव्य नहीं, वाक्य
में रस कह कर जो पदार्थ है, काव्य की सार्थकता उत्पन्न है ।
सौखी-सादी भाषा में हम उसे यों कहते हैं—भाव अनूठो चाहिए भाषा
कोंऊ होय । भाषा गौण है, उसका काम केवल भाव को प्रकाशित
करना है । रूप भी ऐसी ही वस्तु है । जामूपणों के अभाव में भी
जिससे अंगों की शोभा घनी रहती है, उसी का नाम है रूप ।
विल्यात कलाविद रोंदा ने कहा है—कला का सौंदर्य है आभ्यं-
वरीण सत्य की अभिव्यक्ति । बाहर का सौंदर्य भीतर के रूप-
प्रकाश का आधार मात्र है । नीले आकाश में रंगों के खेल,

संतप्यते पवन वेग चलैः पयोदै

राजेव चामर वरैरूपवीज्य मानः ।

जल-शून्य होने से मेव रजत शंख और मृणाल की नाई
गल और हलके हो गए हैं । फिर हवा-द्वारा इधर-उधर होते
चलते-चलते आकाश कहीं सुंदर चँवर-समूह-शोभित राजा
नीति दीख पड़ता है ।

इसी पर विदेश के एक कवि की उक्ति है—

'A half reap'd furrow sound asleep
Drowsed with the fume of poppies, while thy hook
Reveals the next swath and all its twined flowers'

आधे छँटे खेत के हल-द्वारा बिदीर्ण गढ़ों में शरत से रहा
पौधों की गंध से उसका वेश जमता आ रहा है—निरान ने
न के पासों और पौधों को जब तक चखाइ नहीं खाया है
हों के कवि कहते हैं—

तिमिर हरन भयो खेत है हरन सब
मानी जगद हरि सागर मनन है ।

और खीनकन्य कहते हैं—

आता है तिमिर हरन के खेत
हलते तिमिर हरन के

खेत पत. धन. और प्रकाश में लगे हरन हैं वह रहे हैं

यही प्रेरणा उसे अखंड सृष्टि करने को आतुर कर छोड़ती है
वही प्रेरणा देश-काल के सर्वथा परे है ।

कला का उद्देश्य

कला के विचारकों में कुछ ऐसे हैं जो सुनोति के पृष्ठ-पोषक
हैं। उनकी राय में वह कला कला ही नहीं जो मनुष्यों की
संज्ञाओं को जगाने में सहायता न पहुँचाती हो । कला
एक मात्र उद्देश्य है—आदर्श उपस्थित करना । किंतु कला
यदि यही उद्देश्य मान लिया जाय तो उसका अस्तित्व डँबा-
कला हो जाय । क्योंकि कोई भी आदर्श कभी चिरस्थायी
न होता है, वह परिवर्तनशील है । कौन-सा आदर्श किस युग
उपयुक्त समझा जाकर मनुष्यों को अपनी ओर आकर्षित
होता, इसका क्या पता ? कला देश-काल के परे है, और
कला की सफलता तब है जब उसकी कला का मूल्य सभी
युगों और कालों में आँका जाय । यद्यपि कोई दाव नहीं कि,
यदि हमें शिजा या सुनोति का ज्ञान अवर्ण्य है । यदि वह ज्ञान
हो तो बेजा नहीं । कला मंगल-उद्देश्य की पूर्ति में सहायक
समझती है, किंतु शिल्पी का सारा प्रयत्न यदि इसी उद्देश्य
हो तो मनुष्य के शिवा संसार के अनैश्वर्य अज्ञान हो
जाय, उनका ज्ञान सीमापार हो जाय । गेत्स्नरनें ने रामायण
रचना में इसी ऐव आदर्श उपस्थित करने को ही अपना

मुख्य उद्देश्य नहीं माना। मेथ्यु आर्नल्ड ने काव्य के विषय में कहा है—

“× × × Poetry is at bottom a criticism of life, that the greatness of a poet lies in his powerful and beautiful application of ideas to life—to the question how to live”

कविता निगूढ़तम जीवन की आलोचना है। कवि की महत्ता जीवन संवर्धी सुंदर भावों की सुंदर अभिव्यक्ति में है। लेकिन इससे क्या नैतिक जीवन (moral life) ही समझना पड़ेगा। क्या कवि का कर्तव्य केवल सुनीति-संपन्न व्याख्या ही है?

इस पर एक अन्य विद्वान की राय है, “A poetry of revolt against Moral ideas is a poetry of revolt against life, a poetry of indifference towards life”, जो काव्य सुनीति का विद्रोही है, वह मनुष्य जीवन का भी विद्रोही है, सुनीति-रक्षा की ओर से जो काव्य उदासीन है, वह मनुष्य-जीवन के संबंध में भी उदासीन है। मतलब यह कि कला में सुनीति का होना अत्यावश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

किंतु कला इस उद्देश्य की सीमा को अतिक्रम कर गई है। कोई भी कलाविद इस आदर्श के अनुसार अपनी प्रतिभा देवा कर कला-सृष्टि में प्रवृत्त नहीं हुआ। निरंकुश कला वह मर्मा प्रकार के बंधनों से मुक्त होकर कार्य करता है।

वह अपनी कृति में सुनीति को स्थान देने के लिए उतना सतर्क नहीं होता और न सुनीति से उसकी ऐसी कभी की शत्रुता ही है कि वह आ जाने पर उसे निकाल बाहर करे। सुनीति आ जाय तो उत्तम, न आए तो भी उत्तम। इनका एक मात्र उद्देश है—सौंदर्य का विकास, रस की सृष्टि। कला का प्रधान और एक मात्र उद्देश्य सुंदर होना है, उसका कार्य आनंद देना है। जो सुंदर है, उसमें सत् है, असत् कभी सुंदर नहीं हो सकता। जहाँ सत् है वहाँ सुनीति या शिक्षा अवश्य ही है। शिक्षा और आनंद में मूलतः कोई विरोध नहीं। वृक्ष जैसे सैकड़ों जीभ से रस-संग्रह करता है, शिक्षा के विभिन्न मार्ग-द्वारा हम आनंद-प्रहरण करते हैं। किंतु एक बात है, शिक्षा निरानंद नहीं हो सकती, उसके *stagnant* जैसे विषय भी आनंद दायक है और आनंद शिक्षा-विहीन हो सकता है। उदाहरणार्थ, कैलेंडरन का एक चित्र है—प्रोवेंस देश का गुलाब। इसमें नारी का अपूर्व रूप-भाधुरी व्यक्त की गई है, इसके सिवा इनमें कोई नैतिक आदर्श नहीं, फिर भी उसके सौंदर्य-विकास पर हम मुग्ध हो जाते हैं। यूरोप के प्रसिद्ध चित्रकार मैक्स विलगर (१८५७-१९२०) का एक प्रसिद्ध चित्र है 'नीलपटा'। एक हंगरी (नम्र) आकाश की ओर टुकटुकी लगाए खड़ी है, दूसरी ओर नौवां दिन बैठी है, तीसरी बैठी-बैठी खानने की ओर ताक रही है। तीन प्रकार की

गीता में भी भगवान ने कहा है—ये यथा मां प्रपद्येतांस्त-
थैव भजाम्यहम्—जो जिस रूप में मुझे भजते हैं, मैं भी उसे उसी
रूप में भजता हूँ। उपनिषद् कहती है, रसो वै सः। रसं शेषायं
लंदवानंदी भवीत। वे रस स्वरूप हैं, इसी रस को ग्रहण कर हम
आनंद प्राप्त करते हैं।

कला का उद्देश्य आनंद-दान है। आनंद का जन्म दाता
है रस और रस को सृष्टि करती है कला। ईश्वर-प्राप्ति में
भी रस है और नारी-प्रसंग में भी रस है। शिल्पी अपने इच्छा-
नुसार इन दोनों में से किसी एक का आधार लेकर रस की
अवतारणा कर सकता है। बिपरीत ऐसा कह सकते हैं कि नारी-
संभोग की रस-पूर्ण सृष्टि धर्म जीवन के लिए हानिकारक है।
हो सकता है, किंतु बेजल कला या रस-सृष्टि की दृष्टि से इनका
मूल्य किसी भी प्रकार से कम नहीं। रसो दाता रस की सार्थकता
की। विरोधियों के मतानुसार कला की सार्थकता तब ही, जब वह
ईश्वर की स्तार एतारा ध्यान से जगत् में ही भावनाएँ करने
निमित्तक करे।

ईश्वर की कोई निश्चित मूर्ति न होने के कारण धर्मजीवी
व्यक्तिगत हल्के इच्छा विधान से करते, ईश्वर की मूर्तार
लोलाओं के द्वारा देखते हैं, पर किसी की अंतर्दृष्टि उन्हें ईश्वर
और मन-सृष्टि का दान भी देखते हैं।

जिन्हें मैं हम अपने हृदय के निरुद्ध भावों की प्रतिच्छवि उगारते हैं, ज्ञान्य में जीवन और जगत संबंधी सत्तों की प्रतिष्ठा करते हैं, धनियों की गति निश्चित करते हैं और मूर्खियों-द्वारा अंतर के मनुष्य को बाहर लाकर प्रतिष्ठित करते हैं—इस ओर हमें विवश बननेवली प्रेरणा भी वही है।

इस आहुतवा का रूप बहुत ही व्यापक है। समस्त विश्व-प्रकृति में एक इस प्रकार की चेष्टा दृग्गोचर होती है कि वह समस्त जीवों में परिव्याप्त होने के लिए व्यग्र है। मनुष्य मात्र के हृदय के भावों का यह एक स्वभाव है कि वे अपने को उस संकुचित सीमा से मुक्त कर बहुत से हृदयों में व्याप्त हो जाने के लिए सर्वदा व्यग्र रहते हैं। सौंदर्य-योध-जनित सुग्धावस्था से जित भावनाओं का उद्रेक होता है, उन भावनाओं की भी यही प्रवृत्ति होती है। संसार की नाना परित्यक्तियों में पड़कर मनुष्य सुख-दुख, भय-वित्पय, आनंद-शोक आदि की जो अनिश्चताएँ, जो अनुभव प्राप्त कर लेता है वह चारता है कि वे अनुभव और सिद्धांत-विचार हमतक ही सीमित नहीं रहें, प्रचुर उन्हें और-और भी अधिकांश व्यक्ति उसी तोम्रता से अनुभव करें। इस विकृत का एक बहुत बड़ा रहस्य है कि हम अपनी सत्ता को व्यापक रूप में देखना चाहते हैं, अपनी सत्ता को विलुप्त देखना चाहते हैं, इसके बिना हमें सुख-सुख और वृत्ति नहीं मिल सकती।

किसी जर्मन विद्वान को राय है कि हम जितनी ही वस्तुओं को अपने हाथ में कर लेते हैं, हमें उतना ही अधिक आनंद-प्राप्त होता है। प्राणिमात्र की प्रत्येक चेष्टा में, प्रत्येक अनुष्ठान में अपने विकास की की दुर्दम-छालसा विद्यमान रहती है। परिवार-वृद्धि तक में भी यह आकांक्षा काम करती है, हम अपना विस्तार अपने परिवार बढ़ाकर करते हैं। एक बीज अपने को नाना अवस्थाओं में बदलकर लाखों-करोड़ों बीज के रूप में बदल देता है और उन लाखों-करोड़ों से फिर कितने असंख्य बीज होते हैं और होंगे, यह कल्पनातीत है। इसी वन से हमारा वर्तमान परिवार भी एक विकसित रूप है और हम भी, भविष्य में इसका विकास हो, इसके लिए, प्राणपन से जुटे हुए हैं। इस प्रकार अपने विकास के लिए सृष्टि करने में हमें आनंद है, गौरव है। प्रकृति ने इस सृष्टि में अपने को व्यक्त कर आनंद और तृप्ति उपलब्ध की और उसी तरह हम भी कला की सृष्टि में आनंद और तृप्ति का प्रदर्शन करते हैं जसका पाते हैं। प्रकृति का सृष्टि यह जीवन प्रवृत्ति है और हम मनुष्यों की कला

बात यह है कि वास्तव में ही अनिर्दिष्ट होकर मनुष्य अपने को अभिव्यक्त करता है। अपने जीवन के लिए हमें जीवन का प्रयोजन है, उसने ही से हमें संतुष्ट नहीं होता—हम नहीं होते। कला में हमारा प्रभुत्व प्रकट होता है। सृष्टि के लिए प्रकृति

चाहते हैं कि दुःख को जीतकर सुख पाने में गंभीर आनंद का रसात्वादन होता है। सच तो यह है कि, आनंद के बिना जीना ही व्यर्थ हो गया होता।

हाँ, तो आनंद हमारे जीवन के लिए अनिवार्य है। जीवन में आनंद-प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन कला-तृष्टि है। इसीलिए हमारे हल्के से हल्के कार्यों में दैनन्दिन जीवन में कलात्मक चेष्टा ने अपना एक प्रधान-सा स्थान बना लिया है। संसार में जीवित रहनेवाली सान्प्रियों पर दृष्टि डालने से पता लगेगा कि, उनमें कितनी अनादर्यक सान्प्रियाँ भी हमारे लिए अनिवार्य बन गई हैं। हम फल खाते हैं, उससे भूख बुझती है, पर साथ ही हम उसको सुगंध, स्वाद और सुंदरता की बात का भी नहीं भूल सकते। वस्त्र में भी अलक्ष्य रूप से हमारी सौंदर्य-रुचि आवश्यकताओं के अनिश्चित कुछ न-कुछ अपन हाथ छोड़ ही देती है। यह हमें मानना ही पड़ेगा कि जीवन रहा है जो साधन हैं वे मुख्य हैं और जो पाते उनके अनिश्चित हैं वे गौरी हैं किंतु दर गौर होते हुए भी इसका प्रभाव इतना दूर-पर्यंत हो गया है कि वहाँ मुख्य मिश्रण-का पता ही नहीं चलता है। यह हमारी परमात्मिक प्रवृत्ति-सी हो गई है।

इसका एक कारण है। सारा-सारा हमारी सज्जन-सज्जन है और जो हम उनके परे हैं वे हमारा काम हैं। सारा-सारा

की प्रधान सहायिका है। कला-सृष्टि का अधिकार पावर ही
तो मानव जीवन अतिशय गौरवान्वित है। भोजन-पान और
सोना तो पशु-पंछी और पेड़-पौधों का भी काम है।

घटन से लोग कला-सृष्टि की प्रेरणा में दो बातों की प्रधानता
देते हैं। पहली प्रेरणा धन कमाने की, दूसरी यश कमाने की।
इसमें संदेह नहीं कि, कला-द्वारा इन दो बातों की पूर्ति निम्नी
अंशों में होती अवश्य है, फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि,
कला-सृष्टि के मूल कारण ये ही हैं। जीवन की सृष्टि इतनी
गहरी हुआ करती कि, भोजन करो, वरन् भोजन के बिना जिया
नहीं जा सकता, इसलिए जीवन के लिए भोजन एक आवश्यक
पदार्थ है। कला के विषय में भी ऐसा नहीं है। कला की
सृष्टि तो एक ऐसी प्रेरणा देती है जो न तन दूना
तो सकती है और न तन एक दो एक ही तन रहने है। हम
तो न चाहते हैं कि एक दो तन का काम करे और न चाहते हैं कि
एक दो तन का काम करे।

Not physiognomy alone, nor brain above,
is worth the muse.

I say the form complete is worthies far,
the female equally with the male I sing "

मैं एड़ी से चोटी तक मनुष्य का शरीर-विज्ञान गाता हूँ ।
उसके लक्षण और मस्तिष्क हो काव्य के अनुकूल नहीं है । मैं
कहता हूँ, योग्यता है उसका संपूर्ण रूप । मैं स्त्री के साथ ही
रूप का गान करता हूँ ।"

वास्तव में कला के आदर्श न तो यौन-मिलन (sexual
instinct) की प्रवृत्ति है और न अश्लीलता । इन गीतों में
निगूढता है, जो सूक्ष्म अनुभूति है, मानव-मन की स्थूल
प्रवृत्ति उन्हें छू भी नहीं सकती । भेनसद्य मिलो को प्रतिमूर्ति
पि अनावृत्त है, पर है वऽसौंदर्य की रम्य प्रकाश । असल में
सौंदर्य जहाँ परिपूर्ण होता है, वहाँ नग्नता दोष नहीं बल्कि आव-
ही भोषण अपराध है ।

अब यदि आप पूछें कि कला की सृष्टि हम क्यों करते हैं,
तो हम एक ही बात कहेंगे, और यह कि उसके बिना हम रह नहीं
सकते, हठीले बालक-सा हमारा हृदय बाहर आने को विकल हो

उठता है और हम उसे सुंदर रूप में बाहर ले आते हैं। यदि
 यह पूछें कि क्या प्रेम क्यों करते हैं, तो इसके निदा और बड़ा
 उत्तर दिया जायगा कि प्रेम करना हमारे लिए ज़रूरी है। हमारे
 बिना हम रही कैसे सकते हैं। और प्रेम की प्रकृति ऐसी एक
 स्वाभाविक प्रकृति है, बला-सृष्टि की प्रेरणा भी ऐसी ही एक स्वा-
 भाविक प्रेरणा है। हममें कृपितता नहीं, पतों में रंध की तरह
 यह स्वतः समझें हुए है। प्रेम से रहित हृदय हृदय नहीं, पत्थर
 है। हमी प्रसार बला-सृष्टि को प्रेरणा से रहित हृदय मृच्छाना
 के लिए लगता है। यह बात हम फिर इस बात को कहते हैं
 कि सौंदर्य से प्रेम होता है, प्रेम मानवता का मूल्य है, बला-
 मानवता का विनाश है, सौंदर्य और प्रेम एक ही है और प्रेम
 प्रेम है। यह हमारी सदैव-सुख की वास्तविक
 परिचायिका है